धर्म-विज्ञान ग्रंथमाला, अजमेर

उद्देश्य

आजकल हिन्दी साहित्य में पुस्तकों की बाढ़-सी आई हुई है। नित्य ही एक न एक नवीन पुस्तक का प्रकाशन होता ही रहता है। इन पुस्तकों में कुछ तो वास्तव में बड़े काम की चीज़ें साबित हो रही हैं किन्तु अधिकांश पुस्तकें तो हिन्दी का गौरव घटाने का ही अपयश लूट रही हैं। जनता क्या चाहती है? उसके लिये क्या आवश्यक है? उसके धार्मिक भावों में जो ग़लत फ़हमियाँ आ गई हैं उन्हें कैसे दूर किया जाए! इन विषयों पर तो नहीं के समान ही लिखा जा रहा है। 'धर्म-विज्ञान ग्रंथ-माला' इसी अभाव की पूर्ति का श्रेय लूटना चाहती है। इसकी छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में जनता की धर्मजिज्ञासा को ही शान्त किया जाएगा। इन दिनों हमारे जीवन में जो असन्तोष है इसका मूल कारण हमारी मानसिक दुर्बलता ही है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्माधर्म के सम्बन्ध में हम खोखला ज्ञान ही नहीं रखते बल्कि उसके स्थान पर हमने मूर्खता को ही धर्म और कर्त्तव्य मान लिया है! 'धर्म-विज्ञान ग्रन्थमाला' इसी कलंक को धोना चाहती है। इस के पुष्पों में आपको धर्म वृक्ष पर खिलने वाले सुमनों का दिव्य सौरभ प्राप्त होगा। आशा है पाठक उसे स्वीकार करेंगे।

प्रकाशक

धर्म विज्ञान-ग्रन्थमाला अजमेर का द्वितीय पुष्प

क्या
भागवत अश्लील ग्रंथ है!

प्रथमबार १०००

सन् १९२७

मूल्य चार आना

प्रकाशक
क्षात्रधर्म साहित्य-मन्दिर
अजमेर
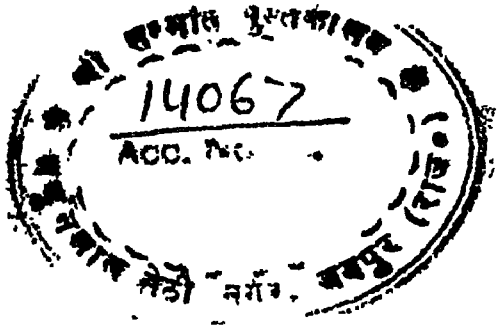
मुद्रक
शम्भूसिंह भाटी
आदर्श प्रेस, कैसरगंज, अजमेर

दो शब्द

श्री मद्भागवत को अश्लीलता प्रचारक ग्रन्थ बता कर उस पर जो आरोप किये गये थे इसकी चर्चा मेरे कानों तक भी पहुँच चुकी थी, उन दिनों मैंने भागवत् की कथा नहीं पढ़ी थी। किन्तु श्री कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी के इस ग्रन्थ को पढ़ने की जिज्ञासा अवश्य थी। कालान्तर में एक ऐसा अवसर आया कि अपने बंगाल प्रवास में मेरा एक बंगाली भागवत् भक्त से परिचय हुआ। इनका नाम है श्री सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय! यह महाशय एक ईमानदार वकील और भागवत् के पंडित हैं इन्हीं से मुझे भागवत् की कथा भी सुनने को मिली। जिन सुंदर शब्दों में उन्होंने भागवत् कथा मुझे सुनाई उससे मैं बड़ा प्रभावित हुआ और उसी दिन से भागवत् का हिमायती बन गया। इतना ही नहीं भागवत पर किये गये आक्षेपों का जवाब देने की भी इच्छा जागृत हुई।

बंगाली महाशय ने अपने विचारों को पुस्तक रूप भी दे दिया था किन्तु द्रव्याभाव से उनकी यह पुस्तक प्रकाश में न आई थी। मूल पुस्तक बंगला में है इसलिये मैंने चाहा कि इसे हिन्दी रूप भी दे दिया जाए। अतः मैंने भी उसका श्रीगणेश कर दिया। पुस्तक के समाप्त हो जाने पर भी कई कारणों से प्रकाश में न लाई जा सकी। अब तब करते करते कई वर्ष बीत गये अन्त में अब आपके सामने उपस्थित कर सका हूँ। आशा है पाठक उससे लाभ उठाएंगे।

रामनवमी
१८-४-३०

नारायणसिंह
गुलाबबाड़ी, अजमेर

धर्म-प्रिय, भक्त-हृदय, सज्जनों को

सप्रेम

भूमिका

एक तो आत्मा और परमात्मा का विषय अलौकिक होने के कारण पहले ही रूखसा प्रतीत होता है; दूसरे उसकी शब्दों से न प्रकट होने वाली खूबी भी लोगों को भड़का देती है। आवश्यकता से अधिक उलझनों के साथ क्लिष्ट भावों में उसका व्यक्तिकरण आसानी से समझ में नहीं आता। घट, पट, माया-ब्रह्म, द्वैत, अद्वैत, शुद्ध, विशिष्टाद्वैत इत्यादि अनेक शब्द लोगों को अज्ञात लोक के विचित्र जन्तु से प्रतीत होते हैं और इन्हीं शब्दों में भक्तियोग और आध्यात्म का सार अंकित है। कृष्णद्वैपायन व्यासदेव ने जन साधारण की इस कठिनाई को समझा और ऐसे भावों में, ऐसे दृष्टान्तों और अलंकारों में इस सत्य का अंकन किया कि जिससे लोगों की समझ में आसानी से आजाए। भक्त का व्यवहारिक रूप क्या होगा? भक्ति-भावों के कारण उसके हृदय में कौनसी खूबी आजायगी यही चित्र भागवत् में गोपियों के चरित्र से दिखाया गया है। भक्ति और योग में ईश्वर पर जो श्रद्धा स्थित की जाती है यदि हम अपने व्यवहारिक जीवन में उसकी तुलना खोजें तो हमें पति पत्नि का आदर्श ही एक दृष्टान्त मिल सकता है। और इसीलिये व्यासदेव ने इस विषय को दृष्टान्त में ढाल कर लिखा है। क्योंकि वे जानते थे कि मानव को आध्यात्म का रहस्य समझाने के लिये मानवसमाज के दृश्यों को ही अलंकार बनाना पड़ेगा और इसके लिये वे मजबूर थे। सूफ़ियों ने भी आध्यात्म के वर्णन में व्यासदेव की इसी भावशैली का अनुकरण किया है। कोई भी व्यक्ति इस

अनिर्वचनीय विषय का वर्णन करने के लिये जब भी क़लम उठाएगा उसे इसी दिशा में आना पड़ेगा। क्योंकि अलौकिक बात का लौकिक क्षेत्र में परिचय कराने के लिये लौकिक क्षेत्र की किसी श्रद्धात्मक, प्रेममय तथा आनन्द मयी तद्रूपता को ही दृष्टान्त बनाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई दृष्टान्त मानव की शंका को निवृत्त नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में प्रेम का तन्मय रूप दिखलाने के लिये, समाधि का साक्षात परिचय देने के लिये यदि भागवत् में श्रृंगार रसकी उर्मियाँ दिखलाई दें तो आश्चर्य की बात नहीं है। न इसमें किसी को अश्लीलता की ही शिकायत होनी चाहिये। व्यासदेव ही क्या, आप किसी भी पहुँचे हुए सन्त की वाणी पढ़िये। जहाँ कहीं भी उसने ब्रह्मानन्द का वर्णन किया होगा उसमें लौकिक जगत के श्रृंगार को उपस्थित पायेंगे। कबीर बहुत ही सुन्दरता से क़लम चलाने वाला सतर्क योगी था किन्तु जहां ब्रह्मानन्द का ज़िकर आया है, भक्त और भगवान की चर्चा आई है; श्रृंगार आ उपस्थित हुआ है। भक्त से उन्होंने कई जगह विरहिणी की उपमा दी है विरहिणी की वेदना प्रकट करते हुए शायद वे भूल गये थे कि वे एक पाप कर रहे हैं। नहीं, नहीं यह तो विषय ही ऐसा है। उसे अंकित करने के लिए उधर आना पड़ता है। कबीर ने भगवान को कई जगह बालम, पति, साजन, सैंयां, साईं इत्यादि लिखा है और भक्त को पत्नि बताया है। ईश्वर जीव के समागम की प्रतीक्षा में तो वह वेदव्यासजी को भी मात दे देता है! फिर भी कबीर को हम महान साधु ही मानते हैं और न उसके साहित्य को ही अश्लील बता सकते हैं।

इस पुस्तक के रचियता ने बड़े ही सरल शब्दों में भागवत् की निर्दो-

षता सिद्ध की है । इस निर्दोषता को सिद्ध करने में उन्हें भक्ति, योग, प्रेम सम्बन्धी कसौटी करनी पड़ी है । इससे विषय अधिक सुबोध बन गया है । दूसरे शब्दों में भक्ति का साक्षात् स्वरूप इसमें अंकित किया गया है । जो आध्यात्म अनुरागी व्यक्तियों के लिये बड़ी ही कीमती चीज़ है ।

इस विषय पर प्रकाश डाल कर नवयुग श्री सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्तुत्य काम किया है । भक्ति विषय की अच्छी परिभाषा के लिये तो एक बड़े विस्तृत ग्रन्थ की आवश्यकता थी किन्तु इस पुस्तक को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि गागर में सागर तो भरा ही गया है किन्तु साथ ही एक 'पंथ दो काज' उक्ति को भी सार्थक किया गया है । श्रीमद्भागवत की महानता एवं पवित्रता की सिद्धि के साथ ही साथ भक्ति का स्वरूप भी अंकित कर दिया गया है । जिसके लिये ग्रंथकार धन्यवाद के पात्र हैं । साथ ही भाषान्तर की सफलता पर श्री ठाकुर नारायणसिंहजी बी. ए. को भी बधाई दे देना आवश्यक है । आशा है भक्ति साहित्य के अनुरागियों के लिये यह काम की चीज़ साबित होगी ।

रामनवमी
१८—४—३७

वीरेन्द्र मालवीय
कैसरगंज, अजमेर

क्या
भागवत् अश्लील ग्रंथ है ?

रासलीला खण्ड

कुछ लोगों की यह धारणा हो गयी है कि श्रीमद्भागवत अत्यन्त अश्लील ग्रन्थ है और व्रजलीला तो मानो मूर्तिमान अश्लीलता ही है। देश का दुर्भाग्य है कि आज कल का शिक्षित समुदाय भागवत का पाठ किये बिना ही, उसकी लम्बी चौड़ी समालोचना कर डालता है। ऐसे लोगों के साथ कोई विचार हो ही नहीं सकता। किसी भी विषय में विचार करने के लिये, उस विषय का कुछ थोड़ा परिचय चाहिये, नहीं तो उसे समझने में और विचार में सफलता नहीं मिलेगी। इसलिये हम पहले 'श्रीकृष्ण-तत्व' क्या है उनकी लीला क्या है? गोपी कौन है? भक्ति मार्ग का साधक कौन हो सकता है तथा काम और प्रेम में क्या भेद है। संक्षेप में इसी का विवेचन करेंगे। तत्पश्चात् भगवत् कथा में अश्लीलता पर प्रकाश डालेंगे।

श्रीकृष्ण-तत्व।

भगवान श्रीकृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं:—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' अर्थात ब्रह्म का घनी भूत विग्रह यानी मूर्तिमान ब्रह्म मैं ही हूँ। व्यासदेव भी श्रीकृष्ण महाराज को अवतार न कह कर "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" कहते हैं। वास्तव में विचार कर देखा जाय तो इस कृष्ण लीला में ब्रह्म का परिपूर्ण भाव जैसा साफ़ झलकता है, प्रायः दूसरी किसी लीला में वैसा स्पष्ट नहीं दीख पड़ता।

ब्रह्म तीन भाव से प्रकाशमान है सत, चित और आनन्द। भगवान श्रीकृष्ण ने अधर्म का विनाश कर भारत में धर्म राज्य की स्थापना की। उन्होंने अपने सत् भाव का उपदेश देने के वहाने अर्जुनादि भक्तों को ज्ञान का परमतत्व सुना कर और वृन्दावन की लीला से शान्त, दास्य आदि पाचों भावों के पूर्ण प्रकाश से अपने चित् भाव का प्रदर्शन किया और आनन्द के मधुर भाव की लीला दिखाकर, अपने आनन्दभाव का विकास कर परिपूर्ण सच्चिदानन्द का दृश्य दिखा कर सारे भारतवर्ष में धर्म, भक्ति और ज्ञान की सरिता बहाई।

अब इस मूर्त्ति की विशेषता पर ध्यान दीजिये:—इस मूर्ति की एक विशेषता यह है कि हमारे अन्यान्य देव देवियों की भांति कृष्ण की मूर्ति वर और अभय देने दिलाने वाली नहीं है, यह चिन्मय आनन्द की घनी भूत मूर्ति है। इस संसार के आनन्दों के आधार, शब्द, स्पर्श, गंध, रूप और रस, इस मदन मोहन की मूर्ति में मूर्तिमान हैं देखिये:—

(१) मोहन की मुरली में मूर्तिमान शब्द ।

(२) नव जलद श्याम ज्योति और वनमाल की शीतलता और उसकी स्वाभाविक स्निग्धता में मूर्तिमान स्पर्श ।

(३) मृगमद, चंदन अगर के तिलक में मूर्तिमान गंध ।

(४) पीताम्बर, मयूर पुच्छ, मकर कुण्डल, और नूपुरादि अलंकारों में सौन्दर्य का आधार मूर्तिमान है ।

(५) त्रिभंग रसराज और तीर्थ नयन दृष्टि में मानों मूर्तिमान सुरस छलक रहा है ।

इस हेतु श्री शुकदेवजी इस रूप के व्याख्यान में कहते हैं:—कि 'साक्षात् मन्मथमनमथः' । इस रूप की तुलना नहीं । यह तो साक्षात मदन मोहन ही है। मदन इस रूप को देखते ही। मोहित और अभिभूत हो जाता है। सुतरां काम की क्रिया शक्ति भी स्तंभित और लोप हो जाती है और कामदेव पराजित एवं लज्जित होकर भाग जाता है। श्री रास पंचाध्यायी के मंगला चरण-में बहुमान्य टीकाकार श्रीधर स्वामीजी ने भी लिखा है:—

ब्रह्मादि जय संरूढ दर्प कन्दर्प दर्पहा ।
जयति श्रीपति गोपी रास मंडल मंडितः ॥

ब्रह्मादि देवगण को जीतकर कन्दर्प मदन को गर्व हो गया था कि वह ब्रह्माण्ड में सब को जीत सकता है। उसके उस दर्प का नाश करने के हेतु ब्रजराज ने ब्रजधाम में गोपी लीला का अभिनय किया। रास लीला में श्रीकृष्णचन्द्रजी के काम जय करने की शक्ति का परिचय है, यह कन्दर्प हारी मदन मोहन की लीला है इसमें काम का तो पता ही नहीं है ।

संसार में देखिये, जहाँ आनन्द विद्यमान है वहीं प्रेम है। जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द वर्तमान है। भगवान सच्चिदानन्द अपनी तीन शक्ति से सदा विराजते हैं:—संवित,संधिनी और आह्लादिनी शक्तियां। भगवान नित्य धाम गो-लोक में अपने आह्लादमय प्रेमांश में अपना आनन्द उपभोग कर सदैव विराजमान हैं। पर अकेले २ तो आनन्द नहीं होता, इस हेतु उनके प्रेमांश से यह सृष्टि रची गई है, यही है उनकी लीला। वही प्रेमांश शुद्ध जीव है और वही जीव अनेक अंशों में अनेक प्रकारों से भगवान आनन्द का आस्वादन कर रहा है। उनकी इस लीला की सहचरी सखियाँ ही प्रेमांश हैं, वृन्दावन लीला में वही प्रकृतियाँ गोपी हैं। व्रज गोपियाँ सच्चे भक्तों का आदर्श हैं—भक्ति शास्त्र के अनुसार भगवत् प्राप्ति के लिये जीव मात्र को भाव का आश्रय लेना होगा। अर्थात् गोपी होना होगा, क्योंकि हरेक गोपी मूर्तिमती भावुकता है और प्रेम और भाव की पूर्णता महाभाव स्वरूपिणी प्रेममयी श्री राधा है।

भक्ति-मार्ग

भक्ति-पथ भाव का पथ है। भगवान सौन्दर्य निकेतन ही क्यों न हों; पर उनकी सुंदरता का उपयोग करने वाला यदि कोई नहीं है तो उस सौंदर्य का महत्व ही क्या है? इसी तरह आनन्दमय भगवान के आनन्द का उपयोग करने वाला कोई नहीं है तो उस आनन्द का भी कोई मूल्य नहीं है! भक्ति-शास्त्र के मतानुसार सृष्टि का आदि कारण भी वही है। अकेला खेल नहीं जमता, प्रेमानन्द रूप का आस्वादन और उपयोग करने वाला यदि

कोई नहीं हो तो आस्वाद का विचार ही कैसे हो सकता है। भगवत् प्रेम कैसा है वह विना उपयोग किये केवल ग्रन्थ पाठ से नहीं समझा जा सकता, पर यह उपयोग हो कैसे, उसका आदर्श मिले कहां ? पूरा नहीं, पर इस संसार में उस भगवत्त प्रेम का कुछ थोड़ा परिचय जीव को प्राप्त होता है इसी भगवत् प्रेम की शिक्षा का लाभ करने के लिये संसार की सृष्टि है न कि पशु की भांति केवल वंशवृद्धि के लिये। पुत्र की मातृ-भक्ति, माता का अनन्य-स्नेह, मित्र का साख्य भाव, वन्धु की वन्धु-प्रीति और नायक और नायिका के परस्पर अनुराग से ही भक्त भगवत् प्रेम का एकथोड़ा-सा अनुभव और दर्शन पाते हैं।

शान्त, दास्य, साख्य, वात्सल्य और मधुर इन पांचों भावों की स्थिति से ही संसार की स्थिति है। जीव मात्र इन्हीं पांचों भावों के अधीन हैं। अनित्य, नश्वर, पार्थिव संसार से इन पांचों भावों को हटा कर भगवत् चरणों में अर्पण करना ही भक्ति का साधन और परम पुरुषार्थ है। इन्हीं सांसारिक भावों का आदर्श रख कर भगवत् प्रेम प्राप्त करना होगा। विषयों से आसक्ति हटा कर भगवत् भक्ति में डूवना होगा। पारस का स्पर्श करवा कर लोहे को सोना वनाना होगा। एक साधक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

या चिन्ता भुवि स्त्री, पुत्र पौत्राभरण व्यापार संभाषणे।
या चिन्ता धन धान्य भोग यशशांलाभे सदां जायते॥
सा चिन्ता यदि नन्द-नन्दन पदछुन्दार विन्देत्तणं।
का चिन्ता यमराज भीम सदनद्वार प्रयासो प्रभो॥

यहां का सब सम्बन्ध ही अनित्य है। घर दो दिन के लिये ही है उसे तो उप घर ही कहना चाहिये। यह तो अपना देश ही नहीं है। कबीरदास जी ने भी तो यही कहा है, "नहिं रहना देश विराना है," पुत्र उपपुत्र, मित्र उपमित्र मात्र ही हैं नित्य निकेतन भगवान का आश्रय लेने की चेष्टा ही परम पुरुषार्थ है। इस संसार का सब काम पूरी तरह से करते हुए भी राजा राममोहनरायजी ने कहाः—

'मन चल निज निकेतने, संसार विदेशे विदेशीर वेशे केन भ्रम अकारणे—अर्थात् रे मन तू अपने घर को चल, इस संसार विदेश में विदेशी बन कर क्यों निरर्थक भटक रहा है। दिल्ली के बादशाह शाह आलम ने भी राजगादी जाने पर कहा हैः—

अब समझ में जफ़र के आया, जो कुछ है सो तू ही है।

उपनिषद युग के हमारे ऋषियों ने भी यही गाया है *"ईशावास्यमिद ७ सर्वंयदकिंच जगत्यां जगत् तेनत्यक्ते भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्।*

इन पांच भावों में सबसे उत्कृष्ट भाव है—मधुर। इस भाव में पाचों भाव विद्यमान हैं। यह भाव अति परम और दुर्लभ है। स्त्री जब जब अपने पति को अपना पाती है उसे अपने सब सुख और दुख का कारण समझती है; तब वह मधुर भाव में शांत भाव का दृष्टांत है। पति को अपना स्वामी समझ कर जब वह उसकी पूजा करती है, सेवा करती है; तब वहां मधुर में दास्य भाव दीख पड़ता है। घर का काम चलाने के लिये जब

दोनों कोई परामर्श करते हैं तब वहां मित्र-भाव यानी साख्य भाव की प्रतीत होती है। पतिदेव के भोजन करते समय स्त्री जिस स्नेह, आदर और आग्रह से उसे खिलाती है, इस संसार में माता को छोड़ कर दूसरा और कौन खिला सकता है, यह मधुर का वात्सल्य भाव है और दाम्पत्य के विशुद्ध प्रेमानन्द में दो जीव एक प्राण, एक मन होकर प्रेम समाधि में डूब जाते हैं यही मधुर भाव का अद्वैत दृष्टान्त है। महाकवि भवभूति ने इस भाव को अपने पद्य में कितनी अच्छी तरह परिस्फुट किया है:—

कार्येषुमंत्री करणेषुदासी, धर्मेषुपत्नि क्षमयाच धात्री।
स्नेहेषु भ्राता शयनेषुवेश्या रंगेसखी लक्ष्मणसा प्रिया मे॥

सुतरां भाव सीखने का आधार सांसारिक अनुरागों में पति पत्नी का दिव्य दृष्टान्त मात्र ही है। परन्तु कुलटा नारी का अनुराग अवश्य एक प्रगाढ़ उन्मत्तता है। वह स्वजन, परिजन को नहीं चाहती, समाज त्यागने में उसे कुछ भी संकोच नहीं, लोक धर्म पर दृष्टि नहीं, धर्माधर्म का विचार नहीं, उसमें अदभुत पागलपन है। उस आनन्द कंद ब्रज चंद को प्राप्त करने के लिये भी यही असंकोच, यही पागलपन होता है। और यही उन्मत्तता चाहिये। लंपट शिरोमणि विल्वमंगल का भाव जिस दिन चिन्तामणि वैश्या के कहने से जगत चिन्तामणि की ओर झुक गया, उसीदिन वह कृत्य-कृत्य हो गया। वह लंपट शिरोमणि यथार्थ में भक्त चूड़ामणि सूरदास वन गया। अव तो भगवान् स्वयं अपने हाथों उस अंधे भक्त को खिलाते और हाथ पकड़ कर वृन्दावन की सैर कराते थे। इस हेतु वंगदेशीय वैष्णवों ने भाव साधन का परम साधन

परकीया भाव ही माना है। इस पथ पर चलने वाले को सर्वस्वदान करके, गोपी बनना पड़ता है, नहीं तो अजगर के मस्तक की मणि के लालच से हाथ बढ़ा कर मणि के बदले विष की ज्वाला ही सह कर, जीवन शेष करना पड़ता है। पहले अधिकारी बनना चाहिये तब अधिकार का दावा करना उचित होगा।

अधिकारी भेद

इस संसार में सब मनुष्य एक ही प्रकार के नहीं होते। कोई भाव प्रवीण होते हैं, तो कोई विचार शील, कोई कर्मिष्ठ और कोई आलसी। जीवमात्र में ही भेद मालूम पड़ेगा सब की चित्तवृत्ति एकसी नहीं है। इसी तरह सबकी मानसिक और अध्यात्मिक अवस्था भी एक नहीं होती। पूर्व जन्म और कर्म संस्कार के फल के अनुरूप कोई उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है तो कोई अवनति की तरफ़ प्रस्थान कर रहा है। जो बालक केवल अक्षर परिचय कर रहा है, उसे ज्यामिति का पाठ देना या जो युवक वेदान्त का अध्ययन कर रहा है उसे साहित्य का पाठ देना दोनों ही हास्यास्पद और असंगत कार्य हैं। इसी प्रकार भावुक कवि के निकट गणित की समस्या और गणित अध्यापक के पास अलंकार शास्त्र का प्रश्न हास्यजनक और विफल होगा। इसी कारण शास्त्र में अधिकारी विभेद से साधन मार्ग का भी भेद रखा गया है। सबके लिये एक ही पद्धति काम नहीं देती। सबको एक ही पथ पर नहीं चलाया जा सकता।

परमार्थ या पराविद्या का लाभ उठाने की योग्यता जिसमें नहीं है, उसे वह विद्या दान करना शास्त्र वर्जित है। शक्ति का

दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। इस नियम के न मानने के कारण जो हानि होती है वह वर्तमान समाज के सारे अंगों पर झलक रही है। गीता के अष्टादश अध्याय में अधिकारी भेद पर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है:—

इदं ते नो तपस्काय ना भक्ताय कदाचन।
न चा सुश्रुषव वाच्यं न च मां योऽरघु सूयति॥

अर्थात् तपस्या विहीन अभक्त या जिसे अभी तक इन सब बातों के सुनने की तीव्र इच्छा जागृत नहीं हुई है और जो कि गुरु सेवा परायण नहीं है। ऐसे व्यक्ति को यह बातें नहीं कहनी चाहियें। यही निषेध न मानने के कारण श्री राधाकृष्ण सम्बन्धी परम प्रेम तत्व आजकल लौकिक आदि रस या काम तत्व हो गया है और लोग उस पर दोषारोपण करते हैं। गिरि गोवर्धन धारण करने की शक्ति रहे या नहीं पर वस्त्र हरण लीला का अनुकरण प्रायः गोस्वामीजी करने पर ततपर हो जाते हैं।

वेदान्त सूत्र का प्रथम सूत्र यह है:—“ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ” अर्थात् अब इसके बाद ब्रह्म जिज्ञासा की अवस्था अतः—अब इसके बाद; किसके पश्चात ? इसके भाष्य में शंकर प्रतिभ श्री शंकराचार्यजी ने कहा है:—

१—निन्याऽनित्य वस्तु विवेक—नित्याऽनित्य वस्तु में पूरा ज्ञान लाभ करो।

२—इहा मूल फल भोग विराग—इस लोक और परलोक के फल भोग करने की इच्छा से विरत हो जाओ।

३—शमदमादि ... सम्पत्तिः को प्राप्त कर,

(क) शम—अन्तर इन्द्रिय को वशीभूत करना।

(ख) दम—बहिरेन्द्रियों का निरोध।

(ग) उपरति—कोई तो कर्म सन्यास को उपरति कहते हैं और किसी के मत से भगवत् कथा और नाम में रुचि होना ही उपरति का लक्षण है।

(घ) तितिक्षा—द्वन्द्व सहिष्णुता यानी सुख-दुःख, लाभ-हानि, शीत ग्रीष्म यह सब समान भाव से ग्रहण करने की क्षमता।

(ङ) श्रद्धा—गुरु और वेदान्त वाक्य में विश्वास रखना।

(च) समाधान—भगवान में एकाग्रता।

इन छःहों साधनों को करने के बाद और—

४—मुमुक्षत्व—मोक्ष प्राप्त करने की तीव्र इच्छा केवल सामयिक उत्तेजना नहीं किन्तु उत्कट और अटूट अभिलाषा।

यह चारों अवस्थाएं प्राप्त करने पर जीवको ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार प्राप्त होता है। ये चारों अवस्थाएँ जिसे प्राप्त नहीं हुई हैं उसे आचार्य ब्रह्मज्ञान का दान नहीं दे सकते। यही है शास्त्र का अनुशासन। इन चारों अवस्थाओं को प्राप्त कर शिष्य, समिधा और कुश हाथ में लेकर विनीत भाव से गुरु के निकट जाकर ब्रह्म विद्या की याचना करता है। गुरु महाराज उसकी योग्यता को जांचते हैं और पात्रत्व देखने के उपरांत उसे गुप्त विद्या दान करते हैं नकि केवल १।) रुपया दक्षिणा पा कर ही। ब्रह्म के विषय में पूछने के लिये अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। उस

आनन्दघन ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए जीव को कितना अधिक उन्नत, अधिक निर्मल और अधिक त्यागी होना आवश्यक है। इसका विचार आसानी से किया जा सकता है। साधक यदि गोपी प्राण से अनुप्राणित न होवे, गोपी भाव से पूर्ण अनुभावित यदि न होवे तो उसे वृन्दावन लीला समझने की चेष्टा ही न करनी चाहिये। क्योंकि ऐसी अवस्था में लाभ के स्थान पर हानि की ही अधिक संभावना है।

काम और प्रेम।

उपनिषद् कहते हैं—"*आनन्दापेव इमानि भूतानि जायते आनन्देन यातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्तऽ भिसंविशन्ति।*"

अर्थात् जीव आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं, आनन्द ही में बढ़ते हैं और फिर आनन्द ही में डूब कर विलीन हो जाते हैं। सुतरां आनन्द पाने की इच्छा जीव का स्वभाव है; स्वरूप धर्म है। जीव सर्वदा ही आनन्द की चेष्टा में लगा रहता है, दुःख से एक बारगी छुटकारा दिलाना ही सर्व दर्शन शास्त्रों का उद्देश्य है। पर महामाया के माया जाल में फंसकर जीव एक मन माने 'अहम्' में तन्मय होकर असली 'अहं' को भूल रहा है। असली 'अहं' नकली 'अहं' में खो दिया गया है इसीलिए जीव इस नकली 'अहं के परितोष के लिये आनंद पाने की आशा में एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर भूमने लगता है। पर तृप्त नहीं होता। उसकी अवस्था नाना पुष्पों पर मंडराने वाले भृंग की-सी है। कभी वह कमल में फंसकर प्राण भी दे देता है। यह एक मनोवृति है। इसी को कर्म कहते हैं। पर यहाँ के समस्त पदार्थ

नश्वर हैं आज है कल नहीं, या आज जिस रूप में है कल उस रूप में दिखाई नहीं पड़ते, परिवर्तनशील हैं। प्रति मुहूर्त में रूपान्तर हो रहा है। अधिकंतु अवस्था भेद से एक ही वस्तु एक ही जीव को कभी सुखदायक तो कभी दुःखदायक भी होती है और अवस्थान्तर प्राप्त होने पर जिस पदार्थ के प्राप्त करने के निमित्त जीव व्याकुल था प्राप्त होने पर उससे अब सन्तुष्ट नहीं रह सकता। जीव के इसी अवस्थान्तर को लक्ष्य कर श्री शंकराचार्यजी ने कहा है—

बालस्तावद् क्रीड़ासक्तः तरुणस्तावद् तरुणी रक्तः।
वृद्धस्तावद चिन्ता मग्नः परमे ब्रह्माणि कोपि न लग्नः॥

और अन्त में प्रेम को ही परम प्राप्तव्य वस्तु मान रहा है—

भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते।

क़ाम, मन की एक वृत्ति है; पर प्रेम कोई मनोवृत्ति नहीं है। प्रेम, जीव का स्वभाव है, स्वधर्म है। किसी पदार्थ की अपेक्षा न रख कर जीव केवल आनन्द भोग करना चाहता है। चिदानन्द कण के आनन्द सागर में डूबने की यही व्याकुलता प्रेम कहलाती है। भक्ति सूत्र में लिखते हैं—

सातु परानुरक्ति ईश्वरे।

जिससे बढ़ कर नहीं हो सकती भगवान् में ऐसी अनुरक्ति को ही प्रेम कहते हैं।

अनन्य ममता विष्णो ममता प्रेम संहिता

वंगदेशीय वैष्णव कवि और भक्त श्री कविराज गोस्वामीजी ने इन दोनों का विभेद बहुत सुन्दरता के साथ दिखाया है:—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारवोलि काम ।
कृष्णेन्द्रिय प्रीतिरि धरे प्रेम नाम ॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल ।
कृष्ण सुख तात्पर्य मात्र प्रेम महा बल ॥

अर्थात्—इन्द्रियों की तृप्ति के लिये जो इच्छा की जाती है उसे काम कहते हैं और भगवान कृष्ण के अनुराग से आकृष्ट हो कर जो इच्छा होती है वह प्रेम कहलाती है ।

काम का मतलब केवल अपना ही भोग है ।
और कृष्ण हेतु जो कछ किया जाय वही प्रेम योग है ।

जिसको जो पदार्थ नहीं प्राप्त हो या जिसकी जो वस्तु नहीं है उसको प्राप्त करने की इच्छा काम या कामना कहलाती है । पर, जिस वस्तु में जिसका नित्य सत्य है उसके खोजाने पर उसे खोज कर फिर से हासिल करने की चेष्टा करना कामना के सदृश दिखाई देने पर भी वह कामना नहीं कही जा सकती । श्री भगवान से जीव का नित्य सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध कभी छूटने वाला नहीं है । जीव हृदय में भगवान को प्राप्त करने की कामना गुप्त भाव से सदैव उपस्थित रहती है । यही जीव का स्वभाव और स्वधर्म है । यह कामना नहीं है, यह प्रेम है । नित्य वस्तु में कभी विच्छेद और अन्तराय नहीं हो सकता । भगवान ने स्वयं कहा है ।

न मय्यावेशितो धीमस्त कामाः कामाय कल्पते ।
भार्जिता क्वथिता धान्या प्रायो बाजायने ईशते ॥

अर्थात—जिनकी बुद्धि हमारे में निवेशित है, उनकी कामना कामना नहीं कही जा सकती। उस कामना से कर्मफल नहीं भोगना पड़ता।

इस विषय पर जितना भी लिखा जाय थोड़ा है किन्तु हमने पाठकों की सुविधा के लिये थोड़ेसे थोड़े शब्दों में ही भगवत्लीला का स्वरूप रखने की कोशिश की है। अब आगे रासलीला के अस्तित्व पर प्रकाश डालेंगे।

'रास' शब्द का अर्थ है रस का समूह यानी ढेर, अलंकार शास्त्र में नौ प्रकार के रसों का वर्णन किया गया है। वे रस—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रकार भेद से भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रत्येक रस का उपयोग तत्व एक आनन्द ही है। जीव जब जिस रस का अभिनय करता है उस समय में वही रस उसे आनन्द दायक मालूम पड़ता है। श्री नीलकान्त गोस्वामीजी के रासलीला ग्रन्थ में इस विषय पर एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है। "कहीं लीलाभिनय हो रहा था, गाने वाले ता-ना-ना-ना का स्वर भांज रहे थे, तबला तिरकटधा, आदि कह रहा था, सारंगी कों कों कर रही थी, मंजीरा ठुन ठाग बज रहा था, तंबूरा अपना ही स्वर जमा रहा था, सब साजों से भिन्न-भिन्न शब्द निकल रहे थे, किन्तु रसिक व्यक्ति सबमें एक ही चीज महसूस कर रहा था, एक ही राग सुन रहा था" इस विश्व नाट्यशाला में भी कोई हंसता है, तो कोई रोता है, कोई मारता है तो कोई मार खा रहा है, कोई शान्त है तो कोई क्रोधित और कोई दया का ही अभिनय कर रहा है पर सबका मुख्य उद्देश्य वही एक आनन्द

का लाभ लेना ही है। श्रुति भी कहती है—"रसो वैसः रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" वह रस है, उसी रस के पाने से जीव आनन्द मय हो जाता है। देखिये, ब्रह्म आनन्द है और रस भी है। अतएव रस की लीला यानी ब्रह्म की लीला ही रासलीला है। सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म श्री कृष्ण हैं और उनकी लीला ही रासलीला है।

यह लीला तीन प्रकार से हो रही है।

(१) निर्गुण अवस्था में – नित्य चिन्मय अप्राकृत धाम में प्रकृति से बाहर नित्यलीला निरन्तर हो रही है। यह वचनातीत है।

(२) प्रत्येक जीव के हृदय में, हृत-वृन्दावन में आध्यात्मिक लीला।

(३) जो अप्राकृतिक होते हुए भी योगमाया के सहारे प्राकृत अभिनय के सदृश दिखाते हुये वृन्दावन की प्रकट लीला।

प्रत्येक जीव के हृदय में जीवात्मा है और परमात्मा भी है। सुतरां जहां भक्ति या प्रेम है वहाँ भगवान या आनन्द भी हैं। पहले ही कह चुके हैं कि जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द जरूर होगा। प्रेम और आनन्द के सम्मिलन पर दोनों का जो स्पन्दन होता है वही रासनर्तन है। शरणागत भक्त की दर्शनपिपासा की तृप्ति ही भक्ताधीन भगवान का आनन्दभोग या रमण है। नहीं तो उस आत्माराम निर्विकल्प में कामना, इच्छा, का अवकाश ही कहाँ है। भक्ति ही उस अनन्त, असीम पुरुष को सान्त और ससीम दिखाती है। भक्त के हेतु योगमाया के सहारे भगवान के रमण का यह अभिनय मात्र है। रस शास्त्र में रास क्रीड़ा को—

नटैर्गृहीतकण्ठीनां अन्योन्यात्तकरश्रियाम् ।
नर्तकीनां भवेद् रासो मण्डलीभूय नर्तनम् ॥

कहा जाता है।

प्राकृत लीला को ठीक रसशास्त्रानुयायी रखने के लिये महान काव्यग्रन्थ भागवत में भी रास का वर्णन उपरोक्त श्लोकानुयायी ही किया गया है। पर पाठक इस मण्डली-नृत्य पर ध्यान देकर इससे ब्रह्मानन्द की अनन्तता भी समझ लेंगे; क्योंकि वृत्त में कहीं प्रारम्भ और शेष नहीं है। फिर रासकाल में जितनी गोपियाँ उपस्थित थीं, एक कृष्ण से उतनी ही कृष्णमूर्ति का प्रादुर्भाव होना उनकी पूर्णता ही सूचित करता है। श्रुति कहती है:—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते

पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बच जाता है। इस संसार में रह कर जीव किस उपाय से उस प्रेम रूप को प्राप्त कर सकता है—यही सिखाने के लिये कामगंधवर्जित प्रेम रूपी गोपियों के साथ की गई मदनमोहन श्रीकृष्ण की लीला रास-लीला है।

अब रास पंचाध्यायी पर एक दृष्टि डालते हुए वेदान्त के ब्रह्मजिज्ञासा भाष्य में शंकरजी ने जिस अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक बताया है; उसे गोपियाँ कहाँ तक पा चुकी थीं। इसका विचार कीजिये।

पहला अध्याय

रासलीला का कथा भाग

पूर्ण एक वत्सर पर्यन्त, कात्यायनीव्रत धारण करने के पश्चात् गोपियों ने जिस दिन व्रत का उद्यापन किया उस दिन वे सोल्लास कालिन्दी स्नान को गईं। इस व्रत धारण से गोपियों को दृढ़ता प्राप्त हुई या नहीं, वे अद्वैत-तत्त्व को समझीं या नहीं यही जानने के लिये मायाधीश ने एक माया ठानली। चुपके से आकर गोपियों के वस्त्रों की ढेरी चुरा कर वृक्ष पर चढ़ गये। थोड़े ही काल में एक गोपी की दृष्टि जमुना किनारे कदम्ब पर लटके हुए कपड़ों पर और उसकी आड़ में छिपे हुए वस्त्रचोर बालक कृष्ण पर पड़ी। तब तो वे लज्जा से एक दम विवर्ण हो उठीं। आकंठ जल मग्न हो कर कातरता से हाथ जोड़ कर उन्होंने अपने वस्त्र वापिस मांगे। उनकी लाख अनुनय विनय का एक ही उत्तर मिला, "पानी से ऊपर आकर अपना २ कपड़ा ले जाओ" इस आचरण के निमित्त हमारे शिक्षित संप्रदाय के सदस्य उन्हें लंपट इत्यादि बहुतेरे विशेषणों से विशेषित करते हैं। सम्भव है कि उनकी दृष्टि Bible के

'Come ye naked to the naked Christ.'

शब्दों पर भी पड़ी हो। और उसका अर्थ वे भलीभांति समझते हों। तब कृष्ण के इस चरित्र में दुष्टता का आरोप क्यों किया जाता है। यह समझ में नहीं आता। जबतक जीव के मन में भेदभाव रहता है, लज्जा और भय तभीतक रहते हैं।

गोपियाँ इस परीक्षा में फैल हुईं, परिपक्व अवस्था होने पर नित्य वस्तु का सम्यक् ज्ञान रहता है। उस समय भेदभाव नहीं रह जाता है। तब लौकिक आचरणों की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसकी छटा गार्गी और शुकदेव में तो थी ही किन्तु एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त है विदुर पत्नी! जब एक बार भगवान कृष्ण उसके यहाँ आए तब वह स्नान कर के वस्त्र धारण कर रही थी। ज्यों ही उसकी दृष्टि भगवान पर पड़ी; वह सुधबुध भूल गई। दौड़ी, भगवान के सत्कार के लिये, उसे यह ख़याल न था कि उसकी देह से वस्त्र हट गया है। इतना ही नहीं, उसे तो यह भी ख़याल नहीं रहा था कि वह भगवान को केला खिला रही है या छिलका। ज्ञानरूपी शंकर दिगम्बर ही हैं, वेदान्तसूत्र में ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकार लाभ करने की पहली सीढ़ी नित्यानित्य-वस्तुविवेक बताई गई है। साल भर व्रताचरण करने पर भी गोपियों को नित्य वस्तु की धारणा नहीं हुई थी। यह उपरोक्त लज्जा से प्रमाणित हो गया। गोपियाँ अभीतक ब्रह्म जिज्ञासा की अधिकारिणी भी नहीं हुई थीं। यदि गोपियों के साथ लंपट मनोवृत्ति का ही आचरण किया होता तो वस्त्र धारण के पश्चात् श्रीकृष्ण कदापि गोपियों को आत्मोपदेश न देते। उनके व्रत को अपूर्ण न बताते। व्रत की महत्ता गाकर चित्त की निर्मलता साधन की व्याख्या न करते। उन्हें उस दिन तक गोपियाँ पूर्ण ब्रह्मस्वरूप नहीं जान सकी थीं। उन्होंने केवल एक परम रूपवान सुन्दर बालक पर आकृष्ट होकर उन्हें पति रूप से प्राप्त करने के निमित्त कात्यायनीव्रत को धारण किया था। यह एक वर्ष गोपियों ने कैसे व्यतीत किया, भागवत में इसका वर्णन नहीं मिलता।

पर रास पूर्णिमा के दिन के आचरण से उन ब्रह्मचारिणी गोपियों की योग्यता साफ झलक जाती है।

साल भर व्यतीत हो जाने पर शरदकाल की एक सांध्यवेला में भगवान श्रीकृष्ण ने मुरली संकेत से गोपियों को बुलाया। रास पंचाध्यायी यहीं से शुरू होती है। जिस समय वंशी वादन हुआ उस समय कोई गोपियां गाय दुह रही थी, कोई दूध औंटाने में, कोई रसोई बनाने में, कोई पति-पुत्रादि की सेवा में और कोई अपने शृंगार करने में लीन थी। पर उस वंशीरव के सुनते ही सब गोपियां अपने-अपने काम छोड़कर श्रीकृष्ण के निकट आ पहुँचीं। इस वर्णन से गोपियों की धर्म, अर्थ और कामना की त्याग वृत्ति श्रीव्यासजी बड़ी चतुराई से दिखाते हैं। गौदोहन या दूध औंटना, या रसोई छोड़ने से इनका अर्थ त्याग है। भोजन के छोड़ने से कामनात्याग और गुरुआज्ञा तथा घर छोड़ देने से उनकी नीति और समाज की मर्यादा के उल्लंघन का त्याग मालूम होता है। यहाँ व्यासजी ने रासलीला की अप्राकृतिकता दिखलाने के लिये एक श्लोक बड़ा ही मनोहर धर दिया है। वे कहते हैं कि कुछ गोपियाँ जिनके पति और पुत्र थे; उन्होंने रास भूमि में जाने के लिये पति और पुत्रादिक को भी त्याग दिया था। कुछ गोपियाँ न जा सकीं। क्यों? इनको अपने-अपने पति पुत्रादिक पर कुछ ममता रह गई थी। किसी भी वस्तु पर अहं या ममत्व ज्ञान रहते हुये ब्रह्मलाभ हो नहीं सकता। यहां तो चाहिये "अनन्य ममता" सर्वस्व भूलकर केवल एक भगवान की ही चाह रखना। इसी को भगवत्प्रेम कहते हैं। पर इतनी व्यग्रता और आकुलता से उपस्थित होने पर चतुर हरि ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और परीक्षा

लेने लगे कि कहीं गोपियाँ कामपीड़ित या प्रेमविह्वल होकर न आई हों। भगवान को तो असली बात मालूम ही थी, पर संसार को दिखाने और सिखाने के लिये कि वे काम के आकर्षण से नहीं—प्रेम के आह्वान से आकुल होकर आई थीं। सर्वस्व त्याग करने पर ही भगवत्-दर्शन मिलता है। गोपियों को उपस्थित देखकर नटराज पूछने लगे "हे भाग्यवती गोपियो! तुम सब अच्छी तो हो न! व्रज का सर्वाङ्ग तो मंगल है न? तुम सब क्यों आई हो? इस रात्रि के समय कुलकामिनियों का जंगल में आना अच्छा नहीं है, जंगल में तुम्हारी आवश्यकता ही क्या है? पति-पुत्रादि की सेवा ही स्त्रियों का परम धर्म है। अब जाओ, घर को लौट जाओ!"

भगवान के इस वाक्य के उत्तर में गोपियों ने जो सब बातें कही हैं, उससे उनके तत्कालीन मनोभाव को कवि ने बड़ी कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है। सब तरह से समझा कर अंत में पतिव्रता नारी का धर्म स्मरण कराते हुए श्रीभगवान कहते हैं—

दुःशीलो, दुर्भगो, वृद्धो, जडो रोग्यधनोऽपिवा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

अर्थात्—यदि पातकी नहीं हो तो पति के दुःशील, दुर्भागी, वृद्ध, असमर्थ, रोगी और निर्धन होने पर भी ऐहिक और पारलौकिक सुखाभिलाषी रमणी कभी उसका परित्याग नहीं करेगी। फिर आगे चल कर कहते हैं।

अस्वर्ग्यम् अयशस्यं च फल्गुदकृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं हि सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥

अर्थात्—कुलनारी के लिये उपपतिसंसर्ग अत्यन्त नीच कार्य है; वह बहुत ही कष्टजनक और भयावह भी है। उपपति संग करने से कुलवान स्त्रियों को स्वर्ग नहीं मिलता; विमल यश लोप हो जाता है और देश परदेश में लोकनिन्दा का भाजन बनना पड़ता है। गोपियाँ भगवान के माया रूप से मोहित होकर केवल देह संग के निमित्त आई हैं या धर्माधर्म के बंधन से परे होकर नित्य पति श्रीकृष्ण को चाहती हैं इसकी परीक्षा चल रही है।

जिनकी वंशीध्वनि सुनकर, घर द्वार छोड़, पति पुत्र को त्याग, व्याकुल होकर मिलने के लिये गोपियाँ आई थीं, उनके श्रीमुख से ऐसी उपेक्षा की बातें सुनकर गोपियाँ कुछ भी विचलित न हुईं; पर स्थिर होकर बोलीं—"विभो, हे स्वच्छ पुरुष, हम लोग इहलोक परलोक के सुख को तिलांजलि देकर तुम्हारी शरण में आई हैं। इस संसार में हमें आपके सिवाय कोई दूसरा नज़र ही नहीं आता है। आप कहते हैं पति, पुत्र की सेवा करना ही हम लोगों का धर्म है। यह सब सही है, किन्तु क्या आप नहीं जानते कि इस संसार में जिन्हें हम अपना समझते हैं वे बंधु बांधव श्मशान के बाद यमद्वार पर भी साथ देते हैं? "राज द्वारे श्मशानेच यस्तिष्ठति स बान्धवः" उस समय तो केवल आप ही साथ रहते हैं। आप से बढ़कर कौन है? पोषण करनेवाले को भर्ता, और रक्षा करनेवाले को ही पति कहा जाता है और पुत् नाम के नर्क से त्राण करनेवाले को पुत्र कहते हैं। किन्तु आपसे

बढ़कर भर्ता, पति और नरक से त्राण करनेवाला पुत्र और दूसरा कौन हो सकता है ? आप ही तो त्रिभुवन पति हैं। आपने हम त्रिविध तापों से तप्त जीवों के उद्धार के लिए ही तो अवतार लिया है। फिर यह व्याजभरी वाणी सुनाकर हमें क्यों छलना चाहते हैं ? अपने दीन भक्तों के साथ दीन वन्धु का यह व्यवहार उचित नहीं प्रतीत होता।"

पाठक कहिये तो सही इस उक्ति में कहां पर काम का लेश है ? इन शब्दों से कुलटा नारी या जार स्त्री का अनाचार टपकता है या भगवत्-शरण में आश्रय पाने के लिये जीव का मर्म भेदी हाहाकार ? गोपियों ने जिन विशेषणों से श्रीकृष्ण को विशेषित किया है उसी से आप विचार कर लीजिये कि उनके प्रति उनका भाव काम का था या भगवत्प्रेम का ? विभो, आत्मस्वरूप, नित्यप्रिय, जनार्दन इत्यादि विशेषणों पर ध्यान रखकर विचार कीजिये। आप पंडित और रसज्ञ हैं आप ही विचार कर लें। हम और अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। यह संक्षेप में रास पंचाध्यायी के प्रथम अध्याय की कथा है। गोपियों के आचरण से ज्ञानमार्गियों का अनन्त निदर्शन और योगियों का ईश्वरप्रणिधान कितनी समानता रखता है यह इससे सिद्ध होता है। इस परीक्षा द्वारा श्रीकृष्ण महाराज ने संसारी जीव को दिखलाया कि ज्ञानमार्गी का नित्यानित्यवस्तुविवेक, भक्तहृदय को अनायास ही प्राप्त हो जाता है। हाँ, यह सच है कि अवस्था के परिपक्व न होने से, जीव का आरोहण-अवरोहण होता ही रहता है। साधनपथ के विघ्न दिखाने के लिये श्री भगवान ने शुद्ध और सत् भक्त गोपियों के मन में अभिमान का बीजारोपण कर

दिया। निरभिमानी भगवत्-भक्त गोपियों को भी कुछ गर्व-सा हो गया। संसार के और जीवों से हम धन्य हैं; और बड़े हैं। ऐसे मद से वे चूर हो गई। अन्तर्यामी भगवान भक्तों में यह दोष नहीं देखना चाहते। अतः भक्तहृदय के इस कालुष्य को धोने के लिये वे सचेष्ट दिखाई दिये। यानी भगवान गोपियों के सामने से अदृष्ट हो गये। गर्व से गोपियों की निर्मल दृष्टि पर कुछ परदा पड़ गया। अज्ञान से दृष्टि का अवरोध होने के कारण वे भगवान को न देख सकीं।

दूसरा अध्याय

भगवान को अदृश्य देखकर गोपियाँ विरह से जलने लगीं। किन्तु इस व्याकुलता के साथ ही साथ वे तद्गतमानस हो गयीं और उन्हीं की लीला का अनुकरण करने लगीं। पागल अवस्था में वे कृष्ण-कृष्ण कर रही थीं। यही है योग की समाधि और भक्ति मार्ग का प्रेमयोग। श्री भगवान में गोपियों की अनन्य तदाकारवृत्ति। दूसरे अध्याय में इसी तादात्म्य का दर्शन कराया गया है।

इस अध्याय में वर्णित गोपियों का आचरण हमें ध्येयप्राप्त योगियों की अवस्था का स्मरण कराता है। गोपियाँ तन्मय होकर चेतन और अचेतन सभी पदार्थों से श्रीकृष्णचर्चा करने लगीं। आरूढ़ भक्त की अवस्था और ब्रह्मज्ञानलाभेच्छु शिष्य की अवस्था एक ही होती है। बिना इस आकुलभाव के भगवान नहीं प्राप्त होते। नदियाविहारी श्रीचैतन्य

महाप्रभु ने भी अपने आचरण से इसी मधुर भाव की शिक्षा दी है। ज्ञान मार्ग में नित्यानित्यवस्तुविवेक और भक्ति-मार्ग में अनन्य ममता एक ही बात है।

जब स्थावर, जंगम, चेतन और जड़ सबसे पूछने पर भी गोपियों को कृष्ण का पता न लगा। प्राण प्यारा खिलाड़ी गोविन्द न जाने कहाँ जा छिपा था। तब वे उन्हीं की चिन्ता में तन्मय होकर सुध बुध बिसार कर उन्हीं में लवलीन हो गयीं और हरएक गोपी अपने को श्रीकृष्ण समझती हुई उनकी लीला का अनुकरण करने लगी! यही है महर्षि पतंजलि का कहा हुआ ईश्वरप्रणिधान और यही है वेदान्तियों का अद्वैत-तत्त्व। उधर यम नियम आदि के अभ्यास से ईश्वर में तन्मयता प्राप्त होती है तो इधर इस गाढ़ चिन्ता से भी तन्मयता का लाभ मिल जाता है। वृन्दावनलीला में ज्ञान का विकास भी दिखाया गया है और योग का भी, पर यह दोनों भाव प्रगाढ़ प्रेम से ढँके हुए दिखाई देते हैं। गोपियों के वाक्य और आच-रण से यह स्पष्ट है। इस प्रकार कभी तो तन्मय होकर उनकी लीला का अनुकरण और कभी योगियों की उत्थित दशा के अनुरूप कुछ थोड़ी बाह्यावस्था प्राप्त कर गोपियाँ अपने प्रियतम को ढूंढ रही थीं। ढूंढते २ उनको भगवान के पद चिन्ह दिखाई दिये। बस फिर क्या था आगे बढ़ने लगीं। और उन्हीं की-सी दशा में वे श्रीमती राधारानीजी से जा मिलीं। उनसे उनकी दशा का विवरण सुनकर फिर सबने मिलकर भग-वान का अन्वेषण करना शुरू किया उन्हें अपनी देह गेह का भी खयाल न था। भटकती भटकती वे जा पहुँची कालिन्दी के

तट पर। उनके मुख से वही रट निकल रही थी। पंचाध्यायी का द्वितीय अध्याय यहीं समाप्त किया गया है। जब गोपियों का गर्व भाव दूर हो गया और वे मान के मद से छुटकारा पाकर श्रीकृष्ण की चिंता में लवलीन हुईं तब उनको भगवान का कुछ पद चिन्ह याने अस्पष्ट झलक दिखलाई दी। तीसरे अध्याय में उनका विलाप लिखा गया है।

तीसरा अध्याय

इस अध्याय में भगवत प्राप्ति के लिये शुद्ध जीव की केवल प्रार्थना और विलाप का वर्णन है। प्रेमी भक्तों का भाव कैसा मनोरम और हृदयग्राही है और उस पर काव्यानुमोदी पाठकों के लिए कवि ने विरहिणी नायिका का भाव संपुट करके कैसा मधुर बना दिया है। यह वर्णन की पराकाष्ठा सिद्ध करता है। गोपियाँ अति करुण भाव से गा रही हैं।

"हे कृष्ण! तुम्हारे ही आगमन से आज यह व्रज भूमि सब पुण्य भूमियों की शिरोमणि बनी हुई है। और तुम्हारे ही आगमन के कारण आज चंचला श्री देवी भी अचला होकर यहां उपस्थित है। हे पुरुषोत्तम! तुमने अघासुर, बकासुर और कालीनाग के भय से हमें तारा है, इन्द्र के कोप से उबारा है, हमें प्राणदान दिया है, क्या वह इस विरहानल में जलाने के लिये ही, आज आप कहाँ जा छिपे हैं? हम जानती हैं कि आप कदापि गोपपुत्र नहीं हैं। आप तो प्राणी मात्र के अन्तर वासी हैं। केवल ब्रह्मा की प्रार्थना के कारण ? का पालन करने के लिये

इस यदुकुल को आप ने पवित्र किया है। हे यदुकुलतिलक! हे रमणीयलोचन! ऐसी भी क्या निर्दयता! अब आप हमें धोखा नहीं दे सकते। हमने भली भाँति समझ लिया है। आप अब इस तरह हम से पीछा नहीं छुड़ा सकते। हे प्राण सखे! संसारभय से त्रस्त होकर तुम्हारे चरणारविन्द में आश्रय पाने वाले भक्तों को आप अपने जिन करों से अभय देते हैं और जिन करों श्रीकमला देवी का कर भी ग्रहण करते हैं। एक बार — केवल एक ही बार, वही श्री कर हमारे मस्तक पर रख कर उसकी उत्तमता को सफल करदो। हे व्रजदुःखमोचनहार! हे बन्धु! हास्य-मण्डित तुम्हारा वह सुन्दर मुखमंडल केवल एक बार हमें दिखा दो। तुम्हारे विशाल वक्षस्थल पर स्थान प्राप्त होते हुए भी जिन चरणकमलों का लोभ श्रीरमा देवी भी नहीं छोड़ सकीं और सर्वदा पद-सेवा में ही लगी रहती हैं। एक बार वे युगल चरण हमारे हृदय पर रख कर उसकी सब चेष्टाएं सब कामनाएं जड़ से उखाड़ दो — हमें कामातीत बना दो। — हम कामानल से बहुत तापित हैं — तुम्हारी दासी हैं। हे प्रियतम! तुम कैसे छली हो! तुम्हारी वह मधुर मधुर हंसी, प्रणयमिलित दृष्टि, प्राण संचारक परिहासवाक्य हम नहीं भूल सकतीं। हमारे मन बहुत ही आकुल हो रहे हैं। संध्यासमय जब धेनुपाल बनकर तुम गोचर में फिरते हो उस समय का तुम्हारे नीलकुन्तल से ढके हुए गोधूलि से मलिन कमलवदन की शोभा दिखा दिखाकर तुमने हमें फुसला लिया है। वह रूप पलक हीन दृष्टि से देख देखकर भी हमारी तृष्णा मिटती नहीं है। अतृप्त आंखें, अतृप्त प्राण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह लोभनीय

रूप जितना ही देखा जाता है उतनी ही तृषा बढ़ती है। तुम्हारी बाँसुरी से आकृष्ट होकर सब को छोड़ कर इस गम्भीर रात्रि के समय इस भयंकर वन में तुम्हारे ही आह्वान से हम इकट्ठी हुई हैं। हे शठ ! तुम्हारे सिवाय ऐसा कौन पुरुष है जो रात्रि के समय अपने से मिलने आई हुई स्त्रियों को फिरादे।"

इस तरह कभी तो प्रणयिनी स्त्री भाव से, कभी सर्वस्व त्यागी प्रेमी भक्त भाव से, गोपियाँ सकरुण विलाप कर रही थीं। इस रोदन में क्या सुख, क्या ही आनन्द है इसे वही समझेगा जो कोई कभी अपने प्रीतम से विदा होने पर रोया है।

अब एक बार पाठक इस गोपीगीत पर विचार कीजिये। इस संसार में आपने कभी देखा है या सुना है कि कुलटा कामिनियाँ एक ही पुरुष पर आकृष्ट होकर परस्पर द्वेष भाव न करती हुई उसके पास समवेत जा पहुँचती हों।

फिर शास्त्र की बातों को भी लीजिये—शास्त्र में लिखा है कि:—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेह पञ्चमी।
कुलं शीलं च मानं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

ये आठों जीव के लिये बंधन के कारण हैं। गोपियों के आचरण से स्पष्ट मालूम होता है कि अब तो उनको न घृणा की बाधा है; न कोई शंका, न भय, न लज्जा, न लुका-चोरी, न कलंक, न अभिमान, न शील का ध्यान, न मान और न गौरव का विचार ही रह गया है, वे अब इन आठों बंधनों से छुटकारा पा चुकी हैं। जीव जब इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब उसके लिये

भगवत्प्राप्ति में कुछ भी बाधा नहीं रह जाती। भक्ति मार्ग के पथिक को विरहिणी कामिनी के व्याकुल भाव से सर्वस्व त्यागती हुई उन्मादिनी गोपी बन कर श्री भगवान के दर्शन के लिये बढ़ना होगा। कुल, शील, लज्जा, भय, धर्म, अधर्म, मान, अपमान, अपना—पराया, घर-बाहर, सबकी चिन्ता छोड़कर इस लोक और परलोक का भी खयाल छोड़ कर केवल, हा कन्हैया! हा कृष्ण, तुम कहां हो, एक बार हमें दर्शन दो, कहते हुए बेचैनी से घूमना होगा, तभी उस गोपीवल्लभ की प्राप्ति हो सकती है।

चौथा अध्याय

इस अध्याय में भगवान श्री व्यासदेवजी ने भगवान कृष्ण और गोपियों का पुनर्मिलन तथा भक्त और भगवान में क्या सम्बन्ध है इसका कुछ विचार गोपी और भगवान के प्रश्नोत्तर में व्यक्त किया है

गोपियों के उस सकरुण और अकपट व्यवहार से भगवान 'तांस्त(?)आर्विभूत' उन गोपियों के सन्मुख आविर्भूत हुए। भगवान तो सर्वव्यापी हैं, सर्वदा सर्व स्थल में विद्यमान हैं। उन्हें देखना न देखना यह तो जीव की अवस्था पर है। यदि एकाग्रता न हो, भगवान में अनन्य ममता न हो, चित्त संसार में लिपट गया हो; तब तो उसका दर्शन नहीं हो सकता। एक ही साथ 'सत्' वस्तु और संसार रूप 'असत्' वस्तु को नहीं प्राप्त किया जा सकता। हाँ, उन नश्वर सांसारिक सुख भोगों को, वासनाओं को

छोड़ कर उसे अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। उसके अभाव में तो दुःख ही हाथ आता है क्योंकि सोने की जंजीर भी जंजीर ही होती है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" पाप और पुण्य उभय से पृथक होकर गोपियों की भांति अनन्यचित्त बनने से ही, अकपट भाव से भगवान के प्रति रोदन करने से और अपना सर्वस्व उनको समर्पण कर देने से ही वे मिला करते हैं। तभी वे दर्शन देते हैं। वे तो भक्त के भगवान कहलाते हैं। इस अध्याय में जो भक्तिसंबंधी बातें दोनों तरफ़ से हुई हैं उनका पाठ करने से जीवन सार्थक हो जाता है।

अब चलिये आख्यान का मजा लूटिये। हठात् भगवान को सामने देखकर गोपियों के मृतक शरीर फिर जी उठे। किसी ने तो उनके कर पकड़ लिये, किसीने पैर की जंजीर बनना पसन्द किया, किसीने ताम्बूल बढ़ाया, तो कोई गोपी कुपित भ्रुकुटी का प्रदर्शन करके अपना अपना प्रणय जता रही थी। और कोई तो प्रेम में पागल बनी केवल शांत भाव से उनके श्यामल मुखारविन्द को पलकविहीन नेत्रों से देखती रहीं। गोपियों के इस भाव के वर्णन में व्यासदेवजी लिखते हैं कि जीवगण गाढ़निद्रा से भी आगे सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान नाम के चैतन्य से मिलित होकर जैसे संतापशून्य होते हैं, गोपियों ने भी कृष्णचन्द्र के मुखारविन्द के दर्शन से वैसी ही तृप्ति का अनुभव किया। लीजिये इस उपमा में काम की गन्ध खोजिये, अजी जनाब निराश होना पड़ेगा। ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग के पथ जुदा २ होने पर अंत में एक ही हैं। यह कितने नैपुण्य के साथ गाया गया है। निदान गोपियों ने अपनी २ साड़ियाँ बिछा कर भगवान के बैठने योग्य

आसन तयार कर ही दिया। हरि उसपर आसीन हुए। संसार की समस्त शोभा उस आसन पर मूर्तिमान थी। तब एक गोपी ने कटाक्ष के साथ मोहन से पूछा—"मधुसूदन! मैंने सुना है कि संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक तो जिनको भजिये तो वे भजेंगे; दूसरे वे लोग जो भजने की अपेक्षा न रख कर बिना भजे हुए ही भजते हैं, और तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो भजने पर भी नहीं भजते हैं और नहीं भजने से तो नहीं ही······

बताइये आप इनमें से किस श्रेणी के हैं? चतुर हरि गोपियों का श्लेष समझ गये और मधुर हास्य की मौन भाषा में उत्तर देने के बाद बोले—भगवती! पहले भजने पर भजना यह तो वणिक्-धर्म यानी लेनदेन की बात है; कोई तुम्हें चाहे तब तुम उसे चाहो यह तो सकाम अर्थात् स्वार्थ से भरी हुई बात है, ऐसे सौहार्द में न प्रीति है न धर्म; ऐसे मोलमुलाई से भगवान नहीं मिल सकते। दूसरी श्रेणी—'न भजने पर भजना' यह तो दयालु माता पिता से ही हो सकता है। यह निर्मल धर्म तो है ही सौहार्द भी है। परोपकार करने से दयालु को धर्मलाभ और पुत्र में स्नेह हेतु माता-पिता का सौहार्द साफ़ है। परन्तु तुम्हारे भगवान तो इस श्रेणी में भी नहीं दीख पड़ते; क्योंकि कहा ही है—बिना भक्ति, भजन के भगवान नहीं मिलते और गुणातीत रहने के कारण भगवान दयालु मनुष्य जैसा सत्त्वगुण के अविकार से दूसरे के दुःख से दुःखित होकर उसपर दया नहीं करते। वे तो भक्त के लिये, कातर के लिये ही दयानिधि हैं और देखो माता पिता का स्नेह केवल अपनी ही सन्तान पर होता है, पर भगवत्

करुणा विश्व-व्यापी है "झरत अविरत धारा सों'। अब स्मरण कीजिये गीता का वह वाक्य—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

भगवान बिना भजने से नहीं भजते । इसीलिये इस श्रेणी में भी नहीं गिने जा सकते ।

तीसरी श्रेणी में आत्माराम आप्तकाम, अकृतज्ञ या गुरुद्रोही को गिना जा सकता है । क्या भगवान भी उसी श्रेणी के हैं ? सुनिये, भगवान स्वयं श्रीमुख से क्या कहते हैं:—"हे सती, आत्माराम पुरुष, आत्मानन्द में सर्वदा अंतर्मुखी रहते हैं, पर हम तो आत्माराम होने पर भी इस चराचर ब्रह्माण्ड के पालक भी हैं । हमको अंतर और बाहर सब ही तरफ़ दृष्टि रखनी पड़ती है ।"

"हम आप्त काम हैं सही, हमें कुछ हासिल करने की चेष्टा की आवश्यकता नहीं है । हममें कोई वासना नहीं है सही, पर भक्त के अनुरोध से, भक्त की वासना पूर्ण करने के लिये हमें इच्छावान होना पड़ता है । फिर—'*ये यथा मां प्रपद्यन्ते स्तांतथैव भजाम्यहम्*' जो भक्त हमें जिस तरीक़े से चाहता है, हम उस भक्त की उसी तरह इच्छा पूर्ण कर देते हैं । भक्तों को इच्छानुसार फल देने वाले हमें अकृतज्ञ कैसे कहोगी और दुष्टों का नाश, शिष्टों का पालन हमारा ही कार्य है । दुष्टों को विनाश करने वाला कभी गुरुद्रोही नहीं हो सकता । तब समझो कि हम इन तीन श्रेणियों में से किसी श्रेणी में नहीं गिने जा सकते । वास्तव में हम तो सृष्टि में रह कर भी इससे न्यारे हैं ।

समझा आपने, श्रीकृष्ण क्या हैं। अब तो कुछ कुछ समझ में आही गया होगा। अच्छा अब आगे देखिये कि भक्त और भगवान में कैसा सम्बन्ध है ?

गोपियों के प्रश्न का उत्तर तो पूरा हो गया। पर भक्ति की मूर्ति गोपियां क्यों उनसे विलग कर दी गई थीं; इसका कारण दिखा कर भगवान कहते हैं:—

'हे सखी ! तुमने हमारे लिये अपना सर्वस्व-त्याग किया है; तब क्या हम तुम्हें एक मुहूर्त के लिये भी छोड़ कर कहीं जा सकते हैं। तुमने अपनी प्रेमडोर से हमें बांध लिया है। दर्शन देकर अदृश्य हो जाना तो केवल तुम्हारे भाव को पक्का करने के लिये, हमारे प्रति तुम्हारे अनुराग को उत्कट बनाने के लिये एक खेल था। तुम निष्काम भाव से हमें चाहती हो, तुमने हमारा ही आश्रय लिया है; तुम्हारे इस प्रेम के ऋण से हम कभी भी नहीं छूट सकते। जबतक कि तुम अपनी उदारता से हमें उऋण न करो।"

अब विचार कीजिये कि भक्तिमार्ग क्या महत्व रखता है। भक्त और भगवान का सम्बन्ध कितना मधुर है। भक्त परब्रह्म में अपनी सत्ता का लोप कराना नहीं चाहते, अपना अस्तित्व नाश नहीं चाहते, ब्रह्म में लीन होना नहीं चाहते, उस प्रकार की मुक्ति की उन्हें वांछा नहीं है।

भक्त चाहते हैं कि चिन्मय देह प्राप्त कर अनन्तकाल तक भगवदानन्द का मजा लूटते रहें। 'भक्त चीनी होना नहीं चाहते चीनी खाना चाहते हैं।' भगवदाचार्य श्री नीलकान्तदेव गोस्वामी

ने इस विषय को बहुत ही सरल और सुन्दर भावों में व्यक्त किया है।

आनन्द ज्ञान को तृप्त कर सकता है, योग को भी परितृप्त कर सकता है, किन्तु प्रेम को नहीं अघा सकता। महाजन यदि सपरिवार मर जावे तो मुनीम की जान बच जाती है। ज्ञानी ब्रह्म-सत्व महासमुद्र में गोता लगाकर नमक की पुतली के सदृश पिघल कर मिल गया, सत्ता लोप हो गयी। यानी महाजन के शासन से अब भगवान मुनीम बचे। योगी भी सचित् समुज्वल हिरण्य गर्भ में डूब गया, समाधि में विलीन हो गया, भगवान की जान बची, पर प्रेमिक भक्त तो मरना नहीं चाहते। इस स्थूल देह को छोड़ कर चिन्मय देह से भगवान का सामीप्य लाभ कर अनन्त काल तक उनको तंग करते हैं। इसी हेतु भगवान मुक्ति देने को तत्पर हो जाते हैं, पर भक्तिदान में बहुत कृपणता करते हैं।"

पंचम-अध्याय

पंचम अध्याय में रास का वर्णन और व्यभिचार दोषारोपण का खण्डन किया गया है और साथ ही साथ गोपियों में जीवन्मुक्त के लक्षण कैसे परिस्फुटित हुए हैं यह दिखाया गया है।

रास वर्णन—व्रजगोपियाँ मंडलाकार खड़ी हुईं। और महायोगेश्वर कृष्ण मंडल में हरेक दो गोपियों के बीच प्रकट हुए। प्रत्येक गोपी के गले में हाथ डाल कर उन्होंने रासोत्सव आरम्भ

किया। देवगण सपत्नीक आकाश में रास नृत्य का दर्शन कर रहे थे। प्रधान २ गन्धर्व भी अपनी २ स्त्रियों को साथ लेकर उपस्थित होकर भगवान् का गुणानुवाद कीर्तन कर रहे थे। निशानाथ चन्द्रमा भी नक्षत्रमण्डली के बीच, उस अद्भुत और मनोरम लीला का अवलोकन कर मन्द-मन्द हँस रहे थे। इस समय सब अपने को भूल चुके थे। देवकामिनियाँ व्रजवनिताओं के इस अपूर्व सौभाग्य पर ईर्षा कर रही थीं। उनका मन इस आनन्द का उपभोग करने के लिये ललचा रहा था। हर्ष का वारापार न था, आकाश से दुंदुभि के नाद के साथ पुष्प वृष्टि होने लगी थी। यह उस सुखद वेला का स्वरूप है। आइये, अब हम व्यासवाणी का अमृत चखें—

इस व्यभिचारमय दृश्य को देखने के लिये देव गंधर्व ही नहीं स्त्रियाँ भी पहुँच गई और व्रजकामिनियों के भाग्य की प्रशंसा करने लगीं। सो भी अपने पतियों के सामने ही। हा विधाता! क्या, व्यासजी के समय भारतवर्ष एक दम अधर्म के अंधकूप में गोता खा रहा था जो इस पाप अभिनय का भी इस लज्जाहीनता से वर्णन किया गया है। पर पाठको कुछ धैर्य धरिये और विचार कीजिये।

व्यासजी कहते हैं—भाई यह खेल कोई लौकिक खेल नहीं हुआ था। यह तो अद्वैत भगवान की द्वैतदर्शिका लीला थी। भगवान अपनी शक्तियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। महाप्रभु महा माया के साथ नृत्य कर रहा था। व्रजतारिकाओं के बीच व्रजचन्द्र के रूप में! उस अनुपम लीला को देखने के लिये किसका मन नहीं तरसता! व्यासजी कहते हैं—

"रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।"

गोपियों की अवस्था पर ध्यान देने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वेदान्त की 'मुमुक्षु' अवस्था से कहीं ऊँची अवस्था गोपियाँ प्राप्त कर चुकी थीं।

अब जहाँ तक आलोचना हो चुकी है, इससे हम आशा करते हैं कि श्रीराधा-कृष्ण तत्त्व से हम कुछ परिचित हो गये होंगे।

अब आगे अश्लीलता दोष के सम्बन्ध में विचार करते हैं—भागवत कथा परमार्थ का विषय है। शुकदेवजी कहते हैं कि इस कथा के श्रवण से जीव को आवागमन से छुटकारा मिल जाता है, पर ऐसे परम तत्त्व को शृंगाररस में क्यों डुबाया गया ? इसका कुछ गूढ़ तात्पर्य अवश्य होगा। ऐसा विश्वास रख कर इसके मर्मोद्घाटन करने की चेष्टा करनी चाहिये।

अब पाठक कुछ धैर्य के साथ मनन करें और यदि कुछ पुनरुक्ति हो जाय तो क्षमा करें क्योंकि अमृत का अस्वादन पुनः पुनः भी होता रहे तो लाभ के सिवाय हानि की कोई संभावना नहीं है। अश्लीलता दो प्रकार से हो सकती है (१) भाव की (२) भाषा की।

ग्रन्थ में भाव की अश्लीलता कहीं भी नहीं है, यह आलोचना में कहा जा चुका है तो भी नीचे लिखी हुई कई बातों पर विचार और ध्यान देने से वह बात और साफ हो जाती है और संदेह के लिए गुन्जाइश नहीं रह जाती।

विचार करना होगा कि (१) भागवत ग्रन्थ का प्रणेता कौन है और कैसा आदमी है ? (२) भागवत के वक्ता कौन-कौन हुए हैं (३) श्रोता कौन था ? (४) किस अवस्था में (५) किस उद्देश्य से सुनाई गई।

१—वेदान्त ग्रन्थों का प्रणेता, वेदों का विभाग कर्ता, नारायण-अवतार, स्वयं श्रीव्यासदेव इसका कर्ता है।

२—जन्म ही से वैराग्य धारण करने वाला बाल ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द में डूबा हुआ भक्त-योगी श्रीशुकदेव वक्ता है।

३—महाराज परीक्षित और भारत के समस्त मुनि और ऋषि संघ इसके श्रोता हैं।

४—ब्रह्मशाप से ग्रस्त मृत्यु के लिए प्रस्तुत श्री गंगा तट पर प्रायोपवेशन किए हुए मुक्तिलाभकामी महाराज परीक्षित की मृत्यु के थोड़ी ही देर पूर्व सुनाया गया था।

५—उद्देश्य—इसके सुनने से राजा मोक्ष को प्राप्त कर लेंगे ! ऐसा ग्रन्थ की फलश्रुति में कहा गया है—"भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगं माशु अपहिनोति।" परम पुरुष श्री गवान में भक्ति प्राप्त कर शीघ्र ही हृदरोग काम को हटा देता है।

कहिये, इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए कभी विश्वास हो सकता है कि महर्षि कृष्णद्वैपायन ने लोक विगर्हित अश्लील काव्य की रचना की। अथवा श्री शुकदेवजी ने शरणागत महाराज परिक्षित को मोक्ष दिलाने का दिलासा देकर और अंगीकार कर शृंगाररस का काव्य सुनाया हो। मृत्यु के समय महाराज ने बड़े ही धीरज के साथ समग्र भागवत, जो कि बिलकुल शृंगार रस की कविता का ढेर कहा जाता है सुना। और भारतवर्ष के समस्त बड़े २ योगी और ज्ञानी और भक्त और पंडित लोगों ने ऐसे अनर्थ और गर्हित विषय की कथा में कोई बाधा नहीं दी, बल्कि समर्थन किया। सुतरां देश, काल पात्र और उद्देश्य इत्या-

दिक का विचार करने पर ग्रन्थ का भाव भागीरथी के जल सदृश सदा निर्मल ही साबित है।

अब भाषा की अश्लीलता पर विचार कीजिये समस्त ग्रंथ में शृङ्गार रस उछला पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर श्रीकृष्ण को परम पुरुष जानकर उनके बारे में गोपियों के मुख से जो सब विशेषण वाक्यों के प्रयोग ग्रन्थ में हैं। किन्तु परमार्थ विषय का ग्रन्थ ऐसी भाषा में और ऐसी उपमा देकर क्यों लिखा गया ? कारण तो अवश्य ही कुछ होगा। आइये, पाठक इसकी भी कुछ खोज की जाय।

(१) ऊपर कहा जा चुका है कि भक्ति मार्ग; राज मार्ग है, और शान्त, दास्य आदि पांचों भावों में मधुर भाव ही सबसे उत्तम भाव है ! इस मधुर भाव में पांचों भाव विद्यमान हैं। और हम संसारी जीवों को इसी भाव में होकर भगवत्-भाव की उपलब्धि करनी होगी। पर किसी पार्थिव विषय का उपयोग कर वाक्यविन्यास से उस आनन्द का भाव ठीक-ठीक नहीं समझाया जा सकता। आपको वह पुरानी कथा मालूम होगी कि किसी जन्मान्ध को कहा गया कि क्या तू खोया खाएगा। अंधे ने पूछा कि भाई मैंने तो कभी खोया नहीं खाया, वह कैसा होता है। उत्तर मिला कि अरे खोया नहीं जानता, बगुले जैसा उजला होता है। अन्धे ने पूछा—भाई, बगुला कैसा होता है ? उत्तर में एक टेढ़ा हँसिया उसके हाथ पर रख देने पर अन्धे ने टटोल कर कहा 'नहीं भाई हम खोया नहीं खाएँगे, वह तो बड़ा टेढ़ा और तेज है। कहीं गला न कट जावे, उपमा तो आंशिक रूप ही से ग्राह्य है न कि सर्व भाव से। जितने लौकिक आनन्द हैं वे तो ब्रह्मानन्द के

अर्थात्—बालक जैसे अपनी परछाईं से खेलता है वैसे ही रमापति श्री भगवान ने ब्रजसुन्दरियों के साथ खेल किया था। वास्तव में सब उस ब्रह्म की परछाईं तो हैं। एक ही ब्रह्म तो वास्तव में विराजमान है और जो कुछ है वह उन्हीं का आभास या परछांही मात्र तो है ही। व्यासदेव की इस उक्ति से श्रीकृष्ण चन्द्र का भगवत भाव 'एकमेवाद्वितीयं' भाव, और एक कृष्ण से हजार कृष्ण का उद्भव होने के वर्णन से उनका परिपूर्ण ब्रह्मत्व और रास की अलौकिकता से उनकी महानता सुस्पष्ट हो जाती है।

भक्त निर्वाण, मुक्ति नहीं चाहते हैं। भगवत्सेवारूप नित्यानन्द भक्तहृदय के निकट ब्रह्मानन्द जनित सुख से, रसराज कृष्ण महाराज का संग कोटिगुण अधिक मूल्यवान है। श्री भगवान ने भी स्वयं कहा है—"दीयमानं न गृह्णन्ति भक्ता मत्सेवनं बिना" अर्थात्—हमारी सेवा छोड़कर भक्त और कुछ यहां तक कि मुक्तिको भी नहीं चाहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण शास्त्र में इस प्रकार है:—

(१) मनोनाश—वासना—कामना का त्याग।

अविद्यानाश—अनित्य वस्तु में नित्य बुद्धि, अशुचि में सुबुद्धि, असुख में सुख बुद्धि, अलाभ विषय में लाभ बुद्धि अविद्या से पैदा हुए मोह का नाश ही अविद्या नाश कहलाता है। गोपियों के हृदय से इस अविद्या की एकदम जड़ ही उखड़ गई थी, यह ऊपर सिद्ध हो चुका है।

तत्वज्ञानोदय—अविद्या नाश होने पर संकल्प का लोप हो जाता है और तभी ज्ञान का उदय होता है। भागवत में वर्णित

ही आभास मात्र हैं। और जब ब्रह्मानन्द के आभास का ही ठीक ठीक वर्णन नहीं हो सकता तब साक्षात् ब्रह्मानन्द कैसे कहा जा सकता है इसीलिये श्रुति में कहा है-"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" मन और वाणी जहां नहीं पहुंच सकते यानो लौट आते हैं। मन से उनकी धारणा नहीं हो सकती, वाणी से नहीं समझाया जा सकता है, वह गुणातीत पुरुष, ज्ञानातीत, गोतीत और वाणी से परे हैं। स्थूल से ही सूक्ष्म की धारणा होती है। बच्चों को पहले खूब बड़े अक्षर से परिचय कराया जाता है तब पीछे छोटे २ अक्षर दिखाये और सिखाये जाते हैं। इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र सीखते समय भी बड़े बड़े नक्षत्रों का ज्ञान कर-वाया जाता है। बाद में ही छोटे तारागण जैसे अरुन्धती आदि की पहचान कराई जाती है। इसी प्रकार सब रसों में प्रधान शृंगार रस के जरिये से ब्रह्मानन्द का कुछ थोड़ासा बोध कराया जाता है, ताकि मधुर से भी मधुर उस ब्रह्मानन्द के लिये जीव उत्कंठित होवे और जीवन सार्थक करे! यह सहारा केवल भाग-वत ही में नहीं लिया गया है। हमारे दूसरे दूसरे पुराणों में यहां तक कि दर्शन शास्त्रों में भी ब्रह्मानन्द समझाने के लिये इसी शृंगारानन्द की उपमा और सहायता ली गई है। यह बात हमारी मनमानी नहीं है; उदाहरण लीजिये।

युवतीनाम् यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा।
मनोभिरमते तद्वत् मनोभिरमतां त्वयि॥

अर्थात्—युवक को युवती में जो आनन्द प्राप्त होता है उसी प्रकार से मेरा मन भी तुममें अनुरक्त हो जाए।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्म्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नवसंगरसायनम् ॥
एवं शुद्धे परे तत्त्वे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥

इत्यादि श्लोकों से भी यही तत्त्व निकलता है। ज्योति ब्राह्मण में कहा है।

जैसे प्रियतमा से आलिङ्गित होने पर मनुष्य को भीतर बाहर की कुछ भी सुध बुध नहीं रहती वैसे ही आत्मा भी ब्रह्म से आलिङ्गित होने पर उन्मत्त हो जाता है; उसे कुछ भी सुध बुध नहीं रहती।

अब देखिये कि यदि दूसरे भाव के निर्देश से ब्रह्मानन्द का निर्देश हम-जैसे सांसारिक जीवों को लग जाता तो वेद और दर्शन जैसे शुष्क और गंभीर ग्रंथ भी आत्मतत्त्व को इसी शृंगार भाव के भीतर से समझाने का प्रयत्न नहीं करते।

(२) फिर देखिये श्री भगवान को प्राप्त करने के लिये सब शास्त्रों में कठोर साधन की आवश्यकता बतलायी गयी है। वेदान्त सूत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" के भाष्य में उसका सोपान-निर्देश हो चुका है। उसको पाने के लिये इन्द्रिय-निग्रह, भोग-विनाश और वासनात्याग केवल इहलोक का ही नहीं किन्तु परलोक का भी त्याग कर कठोर और कठिन साधन पथ पर आरूढ़ होना होगा, मोह को जीत कर उस नित्य वस्तु की धारणा करनी होगी। शायद ऐसे कठिन मार्ग को देख कर विलासप्रिय जीव उससे हट जावे। इसलिये दयालु व्यासदेवजी ने जीव को

ललचाने के लिये इस मधुर रस से परिपूरित सुमधुर काव्य की सृष्टि की है। जो जिस रस के पिपासु हैं अगर वे उसी रस के लोभ से भगवत्-रस ग्रहण करने की तत्परता दिखावें तो परिणाम में उसको भगवत्-लाभ ही होगा। इसलिये व्यासजी ने यह चेष्टा की थी। जीव लौकिक-सुख के लिये सदा तत्पर रहते हैं इसलिये भुक्तिसुख का इस तरह वर्णन किया गया है ताकि अतत्त्वदर्शी मानव धीरे धीरे दुर्बोध परम तत्त्व का आस्वाद लेने को तत्पर हो जावें। जीव मात्र ही शृंगार रस में अनुरक्त होते हैं, जीव की शृंगार रसासक्त दशा देख कर दयालु व्यासजी ने परमार्थ विषय को भगवद्-लीला के शृंगार-रस के ढांचे में ढाल दिया। ताकि उस रस के लोभ से लोग उसे पढ़ें और लाभ उठावें। यह तो लड़के को डाक्टर का फुसलाना ही है। कृमि रोग या मलेरिया बुखार छुड़ाने के लिये तीता तो खिलाना ही होगा, पर बालक तीता खाना नहीं चाहता, इसलिये डाक्टर साहब Banbon के रूप में Sentonine या Sugar coated quinine pills कड़वी कुनैन को मीठी चीनी का आवरण में गोलियां बना कर उसे फुसला कर खिलाते हैं। भवरोग-विनाश करने के लिये भी वैसे ही मधुर रस के आवरण से रोचक काव्य लिखा गया है। पाठक जानते होंगे कि श्री चैतन्य महाप्रभु के मतावलम्बी वैष्णवगण भी लोगों को नाम कीर्तन में प्रवर्तित कराने के लिये "मागुर माछेर झोर नवयुवतीर कोर" मौंगरी मछली का रसा और नव युवती का आलिंगन का प्रलोभन दिखाते थे। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि नामकीर्तन करने वालों को मछरी का झोर और नव युवती का आलिंगन जैसा सुख मिलता है। मगर उन

शब्दों से प्रलोभित हो कर जो कोई नाम लेने लगते थे। वे नाम के मिठास का आस्वादन कर प्रेम समाधि का लाभ करते और तब उनकी आंखों से प्रेमाश्रु छलकते थे। मछली का झोर यानी समाधि का आनन्द और नवयुवती का कौर भी उपमा है। यह तो केवल फुसलाने का ढंग है।

(३) फिर देखिये, इसमें अधिकारि-विचार भी रखा गया है:—मन्दाधिकारी जिनका चित्त अभी तक निर्मल नहीं हुआ है, जो अभी तक भावमार्ग में चलने लायक नहीं हुए हैं, ऐसे लोग बाहर का अश्लील आवरण देख कर रास्ते में पैर न धरें। इससे हट जाएँ, यह भी इसका एक उद्देश्य हो सकता है। मूल ग्रन्थ में श्री शुकदेवजी कहते हैं कि 'धीर व्यक्ति श्रद्धा पूर्वक इसको श्रवण करें। सुतरां श्रोता को धीर होना होगा तभी वह लाभ उठा सकता है। "धीर" किसको कहते हैं ? महाकवि ने कहा है कि:—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा:"

अर्थात् चित्त विभ्रम के कारण उपस्थित होने पर भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता, वही 'धीर' कहलाते हैं।

सामान्य श्रृंगार रस का काव्य सुनने से ही जिनका मन मलिन हो जाता है उनके लिये यह कथा फलदायक नहीं सिद्ध होगी, किन्तु हां; यदि मणि की ज्योति देख कर मणि पाने के लोभ से कोई हाथ डाले तो उसे मणि लाभ अवश्य ही हो जायगा। मणि तो देखी नहीं, देखी है उसकी ज्योति मात्र। पर चूंकि उसका उद्देश्य था मणि प्राप्त करना और उसी के लिये चेष्टा भी की। इसलिये मणि लाभ उसे जरूर हो जाएगा। जब तक अहं-ज्ञान है, देहाभिमान है तब

तक ही शृंगार रस के श्रवण से मन कलुषित हो सकता है। देहाभिमान से लिंगज्ञान होता है। देहाभिमान नाश होने पर लिंग भेद का ज्ञान भी जाता रहता है और तब रति क्रिया का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। चाहिये तन्मयता, चाहिये एकाग्रता जैसी कि गोपियों की थी। जब आप पुरी धाम श्री जगन्नाथजी के दर्शन को गये होंगे और पुत्र परिवार सहित उस पुण्य धाम में दिव्य मूर्त्ति का दर्शन भी आपने किया होगा। कहिये तो उस समय मंदिर में खुदे हुए अश्लील चित्र आपके नयनों में, आपके हृदय में चुभे थे या नहीं ? स्त्री कन्या को लेकर मंदिर में दर्शन करने को जाऊं या नहीं जाऊं ऐसी शंका उपस्थित हुई थी या नहीं ? इसलिए इस लीला में अश्लीलता देखना या न देखना जीव की अपनी अवस्था पर है। जिस समय आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्र महाराज कंस की सभा में उपस्थित हुए, भागवत् में कहा है कि तरह तरह के लोगों ने उनको अपने अपने भावानुसार तरह तरह की मूर्ति में देखाः—

मल्लानामशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ।
गोपीनां स्वजनोऽसतां क्षिति भुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः ॥
मृत्युर्भोजपतेः, विराडविदुषां तत्वं परे योगिनाम् ।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंङ्ग गतः साग्रजः ॥

अग्रज बलदेवजी के साथ जब श्रीहरि ने कंस-सभा में प्रवेश किया तो मल्ल लोगों की नजर में वज्र जैसे कठोर, जनसाधारण को नर श्रेष्ठ, स्त्रियों को मानो मूर्तिमान कंदर्प, गोपियों को कोई अपना आदमी, दुष्ट राजाओं को उनका शासनकर्ता (दंड देने

वाला), अपने माता पिता को बालक रूप और राजा कंस को मूर्तिमान मृत्यु सदृश, पंडितों को साक्षात् विराट् पुरुष-योगियों को परमतत्व और वृष्णि वंशियों को परम देवता रूप से दिखाई पड़े। देखिये, एक ही मूर्ति अपने अपने भाव पार्थक्य से लोगों को कितने पृथक् पृथक् रूप से दिखलाई दी। गोस्वामीजी भी धनुर्भंग अध्याय में लिखते हैं—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

बंगाल में एक कथा प्रचलित है कि—

श्रीकृष्ण बाजाय बांसी गहन विपिने।
जे जे भावेर भावी शे सेई भावेई सुने।

मुरलीधर सघन जंगल में जाकर वंशी वादन करते हैं। पर जिसकी जैसी भावना है वह उससे वही आवाज सुनता है। गोपियां सुनती थीं कि वंशी राधा राधा पुकार कर रास में जाने के लिये बुलाती है, गोप बालक सुनते थे कन्हैयालाल गोठ में जाकर खेलने के लिए संकेत कर रहे हैं और माता यशोदा सुनती थी कि उनके गोपाल भूख से बेदम 'होकर ऐ मइया नवनीत दे, बड़ी भूख लगी है' कह कर खाने को मांग रहे हैं। सुतरां अब प्रायः सिद्ध हो गया कि इस रास लीला में प्राकृत रतिक्रिया का जो कुछ वर्णन है वह केवल काव्य पुष्टि और उपमा के लिये अर्थात् जीव को ब्रह्मानन्द का अन्दाज समझाने के लिये ही है। अधिकं तु जिस किसी को श्रीकृष्णचन्द्रजी की भगवत्ता में आस्था स्थापन करने में अभी तक संदेह और संकोच होता है, उन्हें हम याद दिलाना चाहते हैं कि रासलीला के समय

उनकी वयस आठ वर्ष मात्र की ही थी, सुतरां आठ वर्ष के लड़के से रति क्रिया की सम्भावना ही कैसी ?

लेख कुछ विस्तृत हो गया है, पाठक क्षमा करेंगे, किन्तु एक और विषय का भी विचार कर लेना आवश्यक है। याद रखिये कि भागवत काव्य में लिखा गया है, और काव्य के उपयुक्त अलंकार और भाषा का व्यवहार नहीं करने से वह काव्य नाम के उपयुक्त नहीं होता "नीरसतरुरिह पुरतो भाति" "और शुष्कं काष्टं तिष्ठत्यग्रे" मे भाव तो एक ही है, पर पहले में पदलालित्य झलक रहा है और दूसरे में काव्य की भाषा नहीं है। काव्यरसज्ञ पाठकों को विदित ही है कि जहाँ वे माघ, भवभूति, कालिदास इत्यादि महाकवियों के काव्य का स्वाद ले चुके हैं वहाँ उन्हें भागवत से बढ़ कर शृंगार रस की उपमा और अलंकारशास्त्रानुमोदित व्यवहार अन्यत्र कहीं न मिला होगा। देखिये सात्विक हिन्दू देव देवियों का स्तोत्र पाठ करते समय हाथ जोड़ कर भक्ति से गद्गद हो कर क्या कह रहे हैं:—

'गंधर्वामरसिद्धकिन्नरवधूतंगस्तनालिंगितं'

"कुचभारनमितांगी"

"धराधरेन्द्रनन्दिनीकुचाग्रचित्रपत्रक" इत्यादि।

उस समय तो आपके चित्त में कुछ भी मलिनता नहीं आती। यह मलिनता दोष आपकी दुर्बलता के कारण है। दुर्बलता त्याग कीजिये "नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः"। अब थोड़ासा विवेचन और करके इस निबंध का उपसंहार करते हैं।

एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि यदि मधुर भाव की साधन-शिक्षा देनी ही थी तो विवाहित स्त्रियों के साथ रास का अभिनय क्यों नहीं किया गया। अविवाहित गोपियों के साथ होने पर इसमें व्यभिचार दोष आजाता है। इस दृष्टान्त से मंद बुद्धि जीवों को कुशिक्षा मिलती है और समाज में इसका कुफल देखा जाता है।

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि यह समझ का फेर है। पर अपनी मनमानी कैफ़ियत न देकर मूल ग्रन्थ में श्री शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित के प्रश्न पर जो उत्तर दिया है उसी का पुनराख्यान करते हैं। महर्षि वेद व्यास को यह बात सूझ गयी थी और उसके खंडन के लिये जीवहिताय महाराज परीक्षित से प्रश्न करा कर शुकदेवजी से उन्होंने समाधान करा दिया है सुनिये:—

(१) *तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्व भुजो यथा ।*

गोस्वामीजी ने भी कहा है:—

समरथ को नहि दोप गुसाईं। रवि पावक सुर सरि की नाईं ॥

पर उसके उत्तर में लोग कहेंगे—हाँ, भाई, देवता को कोई दोष नहीं, उनके लिए तो यह सब लीला है; पर हम मनुष्यों के लिये महा पाप। इस हेतु इस 'तेजीयसां' और तुलसीदासजी के शब्दों का आशय क्या है यह समझ लीजिये। आगे के श्लोक में इसको खोल दिया गया है। 'तेजीयान्' कौन है ? ईश्वर। ईश्वर कौन ? जिसको अपनी इन्द्रियों और कुल शक्तियों पर पूर्ण अधिकार यानी प्रभुत्व प्राप्त हो अर्थात् जो जितेन्द्रिय हो।

इन्द्रियों के आधीन नहीं होने से उनमें आत्माभिमान नहीं है। इस हेतु कोई सकाम कार्य ही नहीं करते। पर देहाभिमानी क्षुद्र जीव क्या शिव की बराबरी कर सकता है ? अग्नि सर्व भक्षी है। रुद्र ने हलाहल पान किया है। गंगाजी के स्पर्श से ही कुल पाप नाश हो जाता है। कहिये यह सामर्थ्य किसी भी जीव में है। सूच्यग्र के बराबर संखिया खाजाने से तुरंत ही प्राण विकल हो जाता है।

२—ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः किंभूतः ?

(५—३३)

जो सब का नियन्ता है उनके लिए फिर पाप और पुण्य ही क्या है ? और पाप और पुण्य तो मन के भाव से ही होता है। शास्त्र कहते हैं:—

मनः कृतं कृतं कर्म्म शरीरकृतमकृतम् ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥

मानसिक संकल्प ही पाप और पुण्य का बंधन होता है। भगवान तो संकल्प विकल्प से परे हैं; भक्तों की भावपूर्ति के लिए ही केवल लीला करते हैं, पर तो भी लोग कहेंगे कि हां हो सकता है, वे आप्तकाम हैं। पर उनके इस दृष्टान्त से लौकिक व्यवहार में पाप आजा सकता है, क्योंकि:—

यद् यद् आचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

आगे चल कर देखिये श्री शुकदेवजी क्या कहते हैं:—

३—"*यः अध्यक्षः सर्वेषां देहिनां अन्तः चरति, स एव क्रीडन् देहभाक्*"

सब देहियों में जो साक्षी रूप से विद्यमान है वही यह लीला-विग्रह रूपधारी श्री कृष्णचन्द्र हैं। अब आध्यात्मिक तत्त्व में प्रवेश होने लगा। सब के अन्तर्यामी वही हैं; बल्कि वही हैं और कुछ नहीं है— "एक मेवाद्वितीयं" तब फिर परदारा की आशंका कहां रही! पराये तो कहीं हैं ही नहीं। उन्होंने तो अपनी छाया से ही खेल किया है" ऐसी उपमा दी गई है। पर अभी तक शंका दूर नहीं होती। लौकिक दृष्टि से समाज, की भलाई के लिये ऐसा आचरण तो पापाचरण ही कहा जायगा और यदि लोग इसका अनुकरण नहीं कर सकते तो ऐसे अभिनय की आवश्यकता ही क्या थी। इसका उत्तर नं० २ में हो चुका है। लोग ऐसा आचरण कर सकते हैं पर इन्द्रिय निग्रह इत्यादि कठोर तपस्या के अनन्तर। आगे इसका और भी खुलासा किया गया है—

४—व्रजौकसः स्वान् स्वान् दारान् स्वपार्श्वस्थाने मन्यमानाः कृष्णाय न असूयन्।

अर्थात् व्रजवासियों ने अपनी स्त्रियों को उनके बगल में बिस्तरे पर सोते हुए देख कर कृष्णचन्द्र पर कोई धब्बा नहीं लगाया। बस चलिये सब मामला तय हो गया। गोपी रास में स्थूल शरीर से उपस्थित ही नहीं थीं, वहां स्थूल शरीर की कुछ भी क्रिया नहीं हुई थी, उनके स्थूल शरीर उनके घरों में बिस्तरे पर पड़े रह गये थे। गोपी चिन्मय शरीर से रासोत्सव में सम्मिलित हुई थीं। पंचाध्यायी के (५—३०) और (५—२०) श्लोकों में देखिए कि योगेश्वर कृष्ण ने जितनी गोपियां थीं उतनी कृष्णमूर्ति बना कर रास क्रीड़ा की थी। कहिए यह स्थूल शरीर से हो सकता है।

रास पंचाध्यायी के पहले ही श्लोक में देखिये "योगं" माया नाम्नी अपनी अचिन्त्य अघटनघटनपटीयसी शक्ति से भगवान ने रास लीला का अभिनय किया। और उसी अध्याय के आगे कहा गया है कि जो गोपियां स्थूल शरीर से वहां पहुँचना चाहती थीं वे अपने पति पुत्रादिक से बाधा पाकर उसी क्षण शरीर त्याग कर दिव्य तन से जा रास में सम्मिलित हुईं। इससे साफ़ मालूम होता है कि शारीरिक पाप की आशंका एक दम अमूलक है।

अब मानसिक पाप के बारे में कुछ थोड़ा कह देना उचित है।

१—गोपियां श्री भगवान कृष्णचन्द्र को परब्रह्म कह कर पहचान गई थीं; इसके बहुतेरे प्रमाण उनके कथोपकथन से ज्ञात हो चुके हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व परब्रह्म पर निछावर कर दिया था। यहां मानसिक पाप की भी गुंजाइश नहीं रह जाती।

२—ब्रजदेवियाँ सर्वदा तुरीय अवस्था में रहती थीं। आनंद चिन्मय रस प्रतिभाविता ब्रज गोपियां, आनन्द चिन्मय रस स्वरूप श्री कृष्ण संग से जो आनन्दानुभव करती थीं, वह इस स्थूल ज़गत् के स्पर्शादिक से उत्पन्न सुख से एक दम परे हैं, उनको तो स्थूल सूक्ष्म या कारण शरीर का भी बोध नहीं रहता था।

३—राग मार्ग के साधन निमित्त सब भाव श्री भगवान में अर्पण करना होगा यह पहले कह आये हैं। इस संसार रूपी शिक्षागार में आकर के जो पांचों भाव से अपने संसार को गठित कर लेते हैं, उन पांचों भावों की पूर्ण रूप से उपलब्धि हो जाने पर वे भाव श्री भगवत् चरण में निवेदन कर जीव जीवन्मुक्त होकर इस संसार में अपनी आयु व्यतीत करे। यही है धर्म का मुख्य उद्देश्य।

उनकी लीला का दर्शन कर, श्रवण कर, लीला का यथार्थ भाव ग्रहण करने से जीव को नित्य ज्ञान का लाभ होता है। जो कोई इस भावमार्ग की शिक्षा लेना चाहते हैं, जो कोई उनके असली सेवक बनना चाहते हैं, उनके लिये यही संसार पहली पाठशाला है। पर शान्त, दास्य, सख्यादिक पांचों भावों के आधार स्त्री, पुत्र, बंधु आदिक तो चिर स्थायी नहीं हैं। आज हैं, कल विलीन हो गये। जड़ पुत्र नित्य नहीं है, जड़ पिता नित्य नहीं है, जड़ बंधु, जड़ पति नित्य नहीं रहते। जीव जब संसार में रह कर भाव का माधुर्य भोग करता है तब उसमें फंस कर उस भाव को त्याग नहीं सकता, और भाव के आधार से वियोग हो जाने पर वियोग के दुःख को सहन करता है। पिता के मरने पर शान्त भाव का आधार नहीं रहता, पुत्र गतासु हो जाने पर वात्सल्य की जगह कहां ? इत्यादि सभी भावोंमें आश्रय हीनता आ जाती है। पर यदि भाव पक्का हो जाय तो जीव को ज्ञान लाभ होने पर वह सब भावों के नित्य आश्रय श्री भगवान का पदाश्रय पकड़ लेता है। पति के मरने पर बाला स्त्री विकल हो जाती है पर यदि भाव पक्का रहा तो ज्ञान उपदेश करता है कि—हे बाले, पति का भी जो पति है, जो कि परमपति और नित्यपति है, उसी को तेरा भाव समर्पण कर ! कभी विच्छेद-वियोग का दुःख नहीं सहना होगा, वे तो अजर-अमर, नित्य हैं, वैसा पति और कहां मिलेगा। इस लिए हमारे देश में विधवा को ब्रह्मचारिणी रह कर सदा भगवत् भावना, भजन पूजन में समय व्यतीत करने की व्यवस्था दी गई है। यही पक्का भाव जीव को सिखाने के लिये, 'मधुर' का ईविमल भाव इस शोक ताप से भरे हुए सँसार में फैलाने के लिए

वृन्दावन में रास लीला का अभिनय हुआ था। एक जड़पति को त्याग, सती दूसरे जड़पति को ग्रहण करे तो अवश्य व्यभिचारिणी कहलावेगी। पर यदि जड़ पति को त्याग उसकी जीवितावस्था में ही परमपति को ग्रहण कर लेती है तो क्या उसे आप व्यभिचारिणी कहने का साहस भी करते हैं या उसके नारीपन के सौभाग्य की सफलता समझते हैं। मीराजी राजा भीमसिंह के रहते ही 'तात, मात, बंधु, भ्रात, आपनो न कोई' कह कर घर और घर वालों को छोड़ वृन्दावन चली गई थीं। आज तक सारे हिन्दुस्थान में उनके भाग्य की प्रशंसा गूंज रही है। और वे आदर्श रमणी सती-शिरोमणि कहलाती हैं, इस समय में भी मीरा गोपी बन कर जीव को दिखा गई हैं कि चेष्टा से, साधना से, जीव गोपी बन सकता है। राग मार्ग में साधन करने वालों को मीरा बनना होगा, गोपी बनना होगा, वृथा पुरुषाभिमान करके बैठ रहने से कुछ नहीं होगा। इस संसार में परम पुरुष श्री कृष्ण ही एक मात्र पुरुष हैं, और हम लोग सब प्रकृति हैं, इस बात को न भूलिये। इसका दृष्टान्त बंगाल के भक्त सनातन गोस्वामी और मीराजी की बातचीत से आपको मिलेगा। सनातन विरक्त वैष्णव थे, प्रकृति दर्शन या स्त्री-संभाषण नहीं करते थे। वे वृन्दावन में श्री मदनमोहनजी की सेवा में लवलीन रहते थे और भक्ति ग्रन्थ लिखते थे। मीराजी वृन्दावन पहुँच कर सबसे पहले भक्त शिरोमणि का दर्शन करने गईं और सूचना दी कि मीरा दर्शन चाहती है। सनातनजी ने तो मीरा स्त्री है सुनते ही कह दिया कि 'हम प्रकृति संभाषण या स्त्री-दर्शन नहीं करते।' इस बात को सुन कर भाव रूपिणी मीरा रानी ने हँस कर कहा—'अच्छा, जाओ, मीरा भी एक

गिरधर गोपाल को छोड़ कर अन्य पुरुष को जानती ही नहीं। मैं नहीं जानती, क्योंकि वृन्दावन में, वृन्दावन विहारी के सिवाय सनातनजी भी एक पुरुष बन कर बैठे हैं। जो हो, मैं भी उन्हें अब देखना नहीं चाहती, पुरुष तो हमारा मोरमुकट धारी मुरारी है दूसरा है ही नहीं।'

ग्रन्थ के समाप्ति श्लोक में व्यासजी ने स्पष्ट कह दिया है कि यह गोप गोपी के खेल का वर्णन नहीं है। यह तो व्रजवनिताओंके साथ भगवान विष्णु का रसास्वादन है। इसे जो कोई श्रद्धा पूर्वक श्रवण करेगा या कीर्तन करेगा वह शीघ्र ही इन्द्रियदमन कर भगवान में लीन हो जायगा।

भाइयो, वृथा अभिमान से फूल कर केवल भूसा न कूटिये! इससे पेट नहीं भरेगा, जब तक कि अन्न नहीं मिलेगा। जिससे अभीष्टकी सिद्धि हो, मानव जीवन सार्थक हो वही कीजिये। अपने में गोपी भाव को जगा कर श्री राधाकृष्ण मिलन का भाव समझने और उसका उपयोग करने की चेष्टा कीजिये। हाय, ऐसा दिन कब आवेगा? उनकी कृपा और आप भक्तों की कृपा से हो सकता है। आज आपके कृपा भिखारी हम वृषभानु दुलारी के मुरारी की दया के आसरे से श्री सूरदास विल्वमंगल ठाकुर के साथ कंठ मिला कर पुकारते हैं:—

हे देव, हे दयित, हे जगदेकबन्धो,
हे कृष्ण, हे चपल, हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम,
हा, हा, कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

भक्त-शिरोमणि शबरी

यह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् को अपने जूठे बेर खिलाने वाली हरिजन भक्त शबरी की चरित्र रेखा है। इसे पढ़ कर आपको अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होगा। विशेष लिखना व्यर्थ है। मूल्य केवल तीन आना, डाक व्यय अलग।